जनपद

हिन्दी जनपदीय परिषद् का त्रैमासिक मुखपत्र

वर्ष १] काशी : वैशाख संवत् २०१० [अंक ३

लोकसाहित्य का अध्ययन

हजारीप्रसाद द्विवेदी

(२)

उत्तर-मध्यकाल का हिंदी साहित्य प्रधान रूप से लोक-साहित्य है। उसके यथार्थ अध्ययन के लिये लोक प्रचलित काव्यरूपों का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। कभी-कभी इस काल के साहित्य के काव्यरूपों के अध्ययन के लिये व्यर्थ ही संस्कृत के अलंकृत काव्य की आलोचना करनेवाले आलंकारिक आचार्यों को घसीटा जाता है। यह प्रवृत्ति हास्यास्पद बनती जा रही है। जबतक मध्यकाल के साहित्य के लौकिक रूप को नहीं समझा जाता, तबतक इस पूरी साहित्यिक साधना को ठीक से नहीं समझा जा सकता। दुर्भाग्यवश, इधर लौकिक काव्य रूपों के अध्ययन की उपेक्षा की जा रही है। यह रास्ता ठीक नहीं है।

आगे जिन काव्यरूपों का परिचय दिया जा रहा है वे बहुत थोड़े हैं। केवल उदाहरण के लिये ही इनका उल्लेख किया जा रहा है। यह विषय बहुत विस्तृत है और इसके लिये बहुत धैर्य और चिन्तन-मनन की तथा अनुसन्धान की आवश्यकता है।

सबदी या शब्द

'शब्द' गेय पद हैं। पुराने सिद्ध गेय पदों को किसी न किसी राग का नाम देकर ही लिखते थे। यह प्रथा सूरदास, तुलसीदास और दादूदयाल आदि सन्तों में भी पाई जाती है। गुरु ग्रंथ साहब में भी पदों के राग निर्दिष्ट हैं और कबीरदास के जो पद उसमें संकलित हैं, उनके रागों का भी निर्देश कर दिया गया है। कबीर ग्रन्थावली में भी पदों के गेय रागों का निर्देश

है। यहाँ तक कि रमैणी का भी राग सूहौं निर्दिष्ट है। यह प्रथा कब से शुरू हुई, यह विवादास्पद प्रश्न है। बौद्ध सिद्धों ने तो निश्चित रूप से पदों के साथ राग का नाम दिया है। इसीलिए यह नहीं कहा जा सकता कि राग नाम देकर लिखने की प्रथा मुसलिम काल के बाद चली है। शकुन्तला नाटक में सूत्रधार ने निम्नलिखित श्लोक कहा है—

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।

एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥ १-५

इसमें पाए जानेवाले 'सारंग' शब्द पर थोड़ा विवाद हुआ है। कुछ लोग बताना चाहते हैं कि यहाँ 'सारंग' शब्द पर श्लेष है। उसका एक अर्थ शार्ङ्ग या सारंग नामक राग है और दूसरा हरिण। यदि यह बात सत्य हो, तो मानना पड़ेगा कि रागों का प्रचलन छठीं शताब्दी से ही है; परन्तु इसके बारे में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, अस्तु।

केवल बीजक में इस नियम का अपवाद है। वहाँ केवल 'शब्द' कहकर सन्तोष कर लिया गया है। क्यों ऐसा हुआ, इसका कोई स्पष्ट कारण नहीं मालूम। विचारदास जी ने लिखा है कि इन पदों में मायिक या भ्रामक वचनों से होनेवाले बन्धनों का वर्णन है। परन्तु इन्हें शब्द क्यों कहा गया है, इसका कोई कारण नहीं बताया गया है। आदि ग्रन्थ में बीजक के कुछ शब्द मिल जाते हैं[1] परन्तु अधिकांश शब्द उसमें नहीं हैं। हमने 'कबीर' नामक पुस्तक में दिखाया है कि गोस्वामी तुलसीदास जी को १०६ का पता था[2] जिसमें 'दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम को मरम है आना' कहा गया है। गोस्वामी जी को 'साखी सबदी दोहरा' से

१—निम्नलिखित पदों की तुलना कीजिए :

बीजक	आदिग्रन्थ
शब्द ७३	सोरठ २
शब्द ११२	गौड़ी ४२
शब्द ९७	प्रभाती २

इसके अतिरिक्त चांचरी २ भी गौड़ी ५७ से मिलती है।

२—लोग बोले दूरि गए कबीर। ये मति कोई कोई जानेगा धीर ॥
दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम को मरम है आना ॥
जेहि जीव जानि परानस लेखा। रजुका कहे उरग सम पेखा ॥
यद्यपि फल उत्तिम गुन जाना। हरि छोड़ि मन मुक्ति उन माना ॥
हरि अधार जस मीनहि नीरा। और जतन कछु कहै कबीरा ॥

परिचय अवश्य था और सम्भवतः कबीरपन्थी साहित्य से भी वे परिचित थे [1]। गोरखवानी में भी सबदी नामक एक प्रकरण है। यह संवत् १७१५ को लिखी एक प्रति से संगृहीत है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सबदी (= शब्द) शब्द का प्रचार बहुत पुराने काल से है और सम्भवतः मूलतः वह नाथपन्थी योगियों का शब्द है[2]। कबीरपन्थ में वह सीधे वहीं से आया है। परन्तु यह महत्त्वपूर्ण है कि केवल बीजक की परम्परा में ही 'सबदी' का रूपान्तर 'शब्द' प्रचलित हो सका। आदि ग्रन्थ में और कबीर ग्रन्थावली की परम्परा में यह नहीं गया। इस प्रकार बीजक में संगृहीत पदों का नाम 'सबदी' से मिलता-जुलता होना एक विशेष प्रवृत्ति का द्योतक है। यह प्रवृत्ति अपनी भक्तिपरम्परा के साथ एकात्मता स्थापित करती है। निःसन्देह हमारे आलोच्य काल में इस ढंग के पद बहुत प्रचलित थे। गोरखनाथ के नाम पर मिलनेवाले पद हमारे अनुमान के सहायक हैं, यद्यपि उनमें प्रक्षेप और परिवर्तन बहुत हुआ है। कई पद गोरखनाथ और कबीर दोनों के नाम से मिले हैं, जो गड्डमड्ड के साक्षी हैं।

यद्यपि बीजक जिस रूप में आज मिलता है, वह बहुत पुराना नहीं है, तो भी यह मान लिया जा सकता है कि इसमें जितने प्रकार के काव्यरूपों का प्रयोग है वे सभी कबीरदास के समय में लोक-प्रिय थे। तुलसीदास की भांति कबीर ने भी अपने आस-पास के लोक-प्रचलित विनोदों और काव्य-रूपों को अपनाया होगा, और उसमें अपने उपदेशों को भरकर जनता के

१—दोहावली के निम्नलिखित दोहे द्रष्टव्य हैं :

बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम तें कछु घाटि।
जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर आँखि देखावहिं डाटि॥ ५५३ ॥
साखी सबदी दोहरा, कहि कहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि, निन्दहिं बेद पुरान॥ ५५४ ॥
श्रुतिसंमत हरिभक्ति पथ, संयुत बिरति बिबेक।
तेहि परिहरहिं बिमोहबस, कल्पहिं पन्थ अनेक॥ ५५५ ॥
सकल धरम बिपरीत कलि, कल्पित कोटि कुपन्थ।
पुन्य पराय पहार बन, दुरे पुरान सुभ ग्रन्थ॥ ५५६ ॥
ब्रह्मज्ञान बिनु नारिनर, कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि ते मोह बस, करहिं बिप्र गुरुघात॥ ५५२ ॥

२—स्वयं कबीरदास ने अपने एक पद में एक जगह लिखा है कि ऐसे भ्रमग्रस्त साधु हैं जो साखी और सबदी गाते गाते भ्रम के मार्ग में भटक रहे हैं। उन्हें आत्मा की खबर ही नहीं है। सम्भवतः नाथयोगियों की ओर ही इनका इशारा है :

आसन मारि डिंभ धरि बैठे मन में बहुत गुमाना।
पीतर पाथर पूजन लागे तीरथ बर्त भुलाना॥
माला पहिरे टोपी पहिरे छाप तिलक अनुमाना।
साखी-सबदी गावत भूले आतम खबरि न जाना॥

उपयोग के लिये प्रचारित किया होगा। संत लोग प्रायः ही ऐसा करते आए हैं। कभी-कभी संतों ने लोक-प्रचलित ऐसे विनोद-रूपों का उल्लेख किया है, जिनका साहित्य में बहुत बाद में प्रवेश हुआ है। कबीरदास के प्रयुक्त बहुत से काव्य-रूप जो बीजक में सुरक्षित हैं आज भी जी रहे हैं, जैसे बिरहुली साँप का विष उतारने का गाना है। कबीरदास ने उसका प्रयोग विषय रूपी सर्प के विष उतारने के लिये किया है। कभी-कभी उनके द्वारा प्रयुक्त काव्यरूपों की परंपरा बहुत पुरानी भी सिद्ध होती है।

साखी और दोहरा

'साखी' और 'दोहरा' क्या है? साखी भी दोहा ही है और दोहरा तो दोहा है ही। फिर दोनों को अलग-अलग क्यों कहा गया? क्या साखी कहना ही पर्याप्त नहीं था? 'साखी' शब्द गोरखपंथियों के साहित्य में भी मिलता है और कबीरपंथी साहित्य में तो मिलता ही है। संभवतः बौद्ध सिद्धों को भी इसका पता था, क्योंकि कण्हपा के एक पद में 'साखि करब जालंधर पाएँ' में जालन्धरपाद को साखी करने की बात है। यहाँ मतलब यह मालूम होता है कि जालन्धरपाद के वचनों को कण्हपा साखी रूप में उल्लेख कर रहे हैं। धीरे-धीरे गुरु के वचनों को साखी कहा जाने लगा होगा। बौद्ध सिद्धों के ये उपदेश दोहा छंदों में लिखे गए थे। इसलिए दोहा और साखी समानार्थक शब्द मान लिए गए होंगे। सरहपाद ने अपने एक दोहे में उसे 'उएस' या उपदेश कहा है। यही 'उएस' या उपदेश परवर्ती काल में साखी बन गया है। परवर्ती कबीर साहित्य में तो दोहे का अर्थ ही साखी हो जाता है। अन्य निर्गुणिया सन्तों के सम्प्रदाय में भी 'साखी' शब्द का प्रचलन है। प्रायः साखी की पुस्तकों का विभाजन अंगों में हुआ करता है; अर्थात् साखी साक्षात् गुरु स्वरूप है। इसलिए संत लोग अन्य दोहों से साखी को भिन्न मानते हैं। रमैनियों को साखी के साथ उसकी प्रामाणिकता बढ़ाने के लिये जोड़ा जाता है। मेरा विश्वास है कि रमैनी शब्द कबीर सम्प्रदाय में बहुत बाद में चला है; परन्तु साखी शब्द निश्चय ही पुराना है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि पहले 'साखी' शब्द साधारण रूप में उपदेश के अर्थ में ही रूढ़ हो गया था, परन्तु बाद में वह दोहा छंद के अर्थ में ही प्रयुक्त होने लगा। पर सभी सम्प्रदायों में वह दोहा का समानार्थक शब्द नहीं बन पाया। कितने ही आध्यात्मिक उपदेश मूलक दोहे—जो प्रधानतः निर्गुण भावापन्न थे—उन दिनों अन्य संप्रदायों में भी प्रचलित थे। जैन साधकों में जोइन्दु (परमात्म प्रकाश, योगस्तर) और मुनि रामसिंह के दोहे ऐसे ही हैं। इन्हीं दोहों को साखी से भिन्न समझा जाता होगा। तुलसीदास ने जब साखी से भिन्न किसी 'दोहरा' नामक काव्यरूप का उल्लेख किया था, तब उनका कुछ ऐसा ही तात्पर्य था। फिर उन दिनों शृंगार-रस के दोहे भी बहुत प्रचलित थे। कबीर आदि सन्तों ने इन शृंगार परक दोहों को कभी ज्यों का त्यों ले लिया है, केवल थोड़े से शब्दों के हेर-फेर से उनका तात्पर्य 'साहेब' मुख कर दिया है। 'ढोलामारूरा दोहा' के संपादकों ने ऐसे कई मिलते-जुलते दोहों की

और विद्वन्मण्डली का ध्यान पहले ही आकृष्ट किया है[1]। 'दोहरा' से इन दोहों का भी तात्पर्य हो सकता है।

चाँचर, वसन्त, हिंडोला

सभी देश में जनसाधारण में प्रचलित काव्यरूपों को संतों ने अपने मत-प्रचार का साधन बनाया है। हमारे देश के सभी संप्रदायों के संतों ने ऐसा किया है। हमने पहले ही देखा है कि तेरहवीं शताब्दी के जिनदत्त सूरि नामक जैन संत ने लोक-प्रचलित चर्चरी और रासक जाति के गीतों का सहारा लिया था। चर्चरी उन दिनों जनता में बड़े चाव से गाई जाती थी। श्री हर्षदेव की रत्नावली से और बाणभट्ट की पुस्तकों से चर्चरी गान की सूचना प्राप्त होती है। बारहवीं शताब्दी में सोमप्रभ ने वसन्त काल चर्चरी-गान सुना था—परसन्त चारु चच्चरिव भालु। तेरहवीं शताब्दी के लक्खण नामक कवि ने 'जउणा णई उत्तर तडित्थ' (अर्थात् यमुना नदी के उत्तरी तट पर बसे हुए) रायवड्डिय (रायमा शहर) का वर्णन किया है, जो

---

१. (१) ढोला—राति जु सारस कुरलिया गुंजि रहे सब ताल।
जिणकी जोड़ी बीछड़ी तिणका कवण हवाल॥
कबीर—अंबर कुँजाँ कुरलियाँ गरजि भरे सब ताल।
जिन पै गोविन्द बिछुरे तिनके कौन हवाल॥
(२) ढोला—यहु तन जारौं मसि करौं धूँआ जाहि सरग्गि।
मुझ प्रिय बद्दल होइ करि बरसि बुझावइ अग्गि॥
कबीर—यहु तन जालौं मसि करौं जसु धुआँ जाई सरग्गि।
मति वै राम दया करै बरसि बुझावै अग्गि॥
कबीर—यहु तन जालौं मसि करौं लिखौं राम का नाउँ।
(३) ढोला—सुहिणा, तोहि मराविसूँ, हियइ दिराऊँ छेक।
जद सोऊँ तद दोई जन, जद जग्गूँ तद हेक॥
कबीर—कबीर सुपनै रैनिकै पारस जिय मैं छेक।
जो सोऊँ तो दोइ जण जे जागूँ तौ एक॥
(४) ढोला—चिंता बध्यउ सयल जग, चिंता किणहि न बद्ध।
जो नर चिंता बस करइ, ते माणस नहिं सिद्ध॥
कबीर—संसै खाया सकल जगु संसा किनहुँ न खद्ध।
जे बेधे गुरु अष्षिराँ तिनि संसा चुणि चुणि खद्ध॥
(५) ढोला—ताळि चरंति कुंझडी सर सँधियउ गंभारि।
कोइक आखर मनि वस्यउ, ऊड़ी पंख सँभारि॥
कबीर—काटी कूटी मछली छीकैं धरी चहोड़ि।
कोई एक आषिर मन बस्या दह मैं पड़ी बहोरि॥

आगरे के आस-पास कहीं रहा होगा। उन्होंने उस नगर के चौहट्ट को चर्चर-ध्वनि से उद्दाम देखा था। इस चर्चरी का कोई निर्दिष्ट छंद नहीं था। कबीरदास के बीजक में चाँचर नामक एक अध्याय है। इस चाँचर में पुरानी चर्चरी का ही अवशेष है। बीजक का चाँचर इस प्रकार है।

खेलति माया मोहिनी जिन्ह जेर कियो संसार।
रच्यो रंग ते चूनरी कोइ सुन्दरि पहिरे आय॥

इसमें केवल गान का रूप ही नहीं लिया गया है, आध्यात्मिक उपदेश में 'चर्चरी'—जैसे लोक-प्रिय गान के प्रिय विषय शृङ्गार रस का आभास देने का भी प्रयत्न है!—

नारद को मुख मांड़ि के लीन्हौ बसन छिनाय।
गरब गहेनी गरब तें उलटि चली मुसुकाय॥
एक ओर सुर नर मुनि ठाढ़े एक अकेली आय।
दिष्टि परे उन काहु न छांड़े कै लीन्हो एक धाय॥

बीजक से यह आभास मिल जाता है कि चाँचर फगुआ से सम्बद्ध है। फिर बीजक में दो पद चाँचर के हैं, दोनों के छंद अलग अलग हैं। इससे भी सूचित होता है कि इसके लिये कोई एक ही छंद नियत नहीं था।

अपभ्रंश की चर्चरी-पुस्तकों की टीकाओं में इस शब्द का अर्थ खेल बताया गया है। कालिदास और श्री हर्ष आदि के नाटकों में चर्चरी गान के अनेक उल्लेख हैं। अपभ्रंश में जिनदत्त सूरि की लिखी हुई 'चर्चरी' प्राप्त हुई है। उसके टीकाकार (जिनपाल उपाध्याय) ने भी बताया है कि यह भाषा-निबद्ध गान नाच-नाच कर गाया जाता है। इस चर्चरी का प्रथम पद इस प्रकार है—

कब्बु अउब्बु जु विरयइ नवरस भर सहिउ।
लद्ध पसिद्धिहिं सुकइहिं सायरु जो महिउ॥
सुकइ माहु ति पसंसहिं जे तसु सुहगुरुहु।
साहु न मुणइ अयाणुय मइजिय सुरगुरुहु॥४॥

बीजक की दूसरी चाँचर[1] ठीक इसी छन्द में तो नहीं है, पर मिलते जुलते छंद में अवश्य है। जान पड़ता है कि चर्चरी या चाँचर को दीर्घ-परंपरा रही होगी। इन दो-चार

---

१. दूसरी चाँचर के कुछ छंद उदाहरणार्थ उद्धृत हैं—
जारहु जग के नेहरा, मन बौरा हो।
जामें सोग संताप, समुझु मन बौरा हो॥१॥
तन धन सों का गर्वसी, मन बौरा हो।
भसम किरिमि जाकी साज, समुझु मन बौरा हो॥२॥

उदाहरणों से यह प्रमाणित हो जाता है कि बीजक में जिन काव्यरूपों का प्रयोग किया गया है उनकी परंपरा बहुत पुरानी है। और आलोच्य काल में विभिन्न संप्रदाय के गुरुओं ने धर्म-प्रचार के लिये इन काव्यरूपों को अपनाया था। स्वयं तुलसीदास जी ने भी चर्चरी राग को अपनाया था।

इसी प्रकार लोक-प्रचलित फाग आदि गानों का भी जैन मुनियों ने उपयोग किया है। जिनपद्म सूरि की पुस्तक—'थूलभद्द फागु' प्रसिद्ध ही है। इस विद्वान् कवि की रचना में अद्भुत नाद सौन्दर्य है[२]। बीजक का बसन्त इसी प्रकार लोक-प्रचलित-काव्य-रूप का अंगीकरण है। भाषा इसकी अवश्य बदल गई है, पर यह इस बात का सबूत तो है ही, कि उन दिनों के प्रचलित काव्यरूपों का संतों ने अपने ढंग से अपने उद्देश्य के लिये उपयोग किया है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी गीतावली में वसन्त राग का प्रयोग किया है। बीजक के वसन्त राग तुलसी के वसन्त राग के लिये व्यवहृत छन्दों में ही लिखे गए हैं। उदाहरणार्थ, गीतावली के एक वसन्त की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं और साथ ही बीजक के वसन्त की भी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं—

गीतावली (उत्तरकाण्ड, २२)

खेलत वसंत राजाधिराज। देखत नभ कौतुक सुर समाज॥
सोहैं सखा अनुज रघुनाथ साथ। झोलन्हि अबीर पिचकारि हाथ॥
बाजहि मृदंग, डफ, ताल, बेनु। छिरकै सुगंध भरे मलय रेनु॥
उत युवति यूथ जानकी संग। पहिरे पट भूषन सरस रंग॥

बीजक (वसन्त २)

बिना नेव का देव घरा, मन बौरा हो।
बिनु कहगिल की ईंट, समुझु मन बौरा हो॥३॥
कालबूत की हस्तिनी, मन बौरा हो।
चित्र रचो जगदीश, समुझु मन बौरा हो॥४॥

—इत्यादि

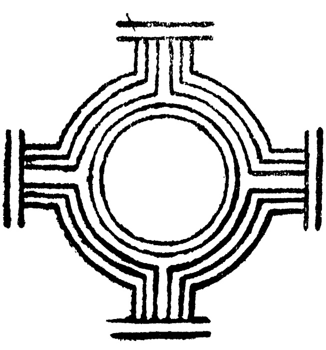
२. राजशेखर सूरि के नेमिनाथ फागु से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

किम किम राजल देवि तणउ सिणगारु भणेवउ।
चंपइ गोरी अइधोई अंगि चंदनु लेवउ॥
खुंपु भराविउ जाइ कुसुम कस्तूरी सारी।
सीमंतइ सिंदूर रेह मोतिसरि सारी॥
नवरंगि कुंकुमि तिलय किय रयण तिलउ तस भाले।
मोती कुंडल कन्नि थिय बिंबालिय कर जाले॥

रसना पढ़ि लेहु सिरी-बसंत, पुनि जाइ परिहौ जम के फन्द।
मेरु डंड पर डंक दीन्ह, अस्ट कवँल परजारि दीन्ह।
ब्रह्म-अगिनि कीयो परगास, अरध-उरध तहँ बहै बतास।
नवनारी परिमल सो गाँव, सखी पाच तहँ देखन धाव।
अनहद-बाजा रहल पूरि, पुरुष बहत्तर खेलैं धूरि।
माया देखि कस रहहु भूलि, जस वनसपति रहि है फूलि।
कहैं कबीर हरी के दास, फगुवा मांगै वैकुण्ठ बास।

बीजक में जो हिंडोरा नाम के पद हैं उनकी भी परंपरा बहुत पुरानी है। तुलसीदास की गीतावली में भी हिंडोला राग के पद प्राप्त होते हैं। बीजक के हिंडोला राग के छंदों से वे मिलते हैं। इसी प्रकार बीजक में 'बेलि' नामक एक प्रकार का गान है। यह गान नाना दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हम आगे इसके प्रतिपाद्य का महत्व बताने का प्रयत्न करेंगे। जहाँ तक इसके काव्यरूप का संबंध है, वह राजपूताने से बिहार तक फैले हुए एक विशेष श्रेणी के गान का प्रतिनिधित्व करता है। राजपूताने में इस नाम के कई काव्य प्राप्त हुए हैं जिनमें महाराज पृथ्वीराज का लिखा हुआ 'बेलि कृष्ण रुक्मिणीरी' पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुका है। हिंदी में 'बेलि' नामधारी और रचनाएँ भी संतों के साहित्य में मिल जाती हैं। वस्तुतः लोक प्रचलित काव्यरूपों का जैसा संग्रह बीजक में है, वैसा हिंदी के कम ग्रंथों में मिल सकता है। ऐसा जान पड़ता है कि बीजक के लेखक के सामने वही लोक प्रचलित गान थे, जो तुलसीदास के सामने थे। दोनों ने एकही लोकप्रचलित गान-पद्धति के आदर्श पर अपने अपने पद लिखे हैं।

इन थोड़े से उदाहरणों से स्पष्ट है कि भक्त कवियों ने अपने उपदेशों के लिये लोक-प्रचलित काव्यरूपों का कितना उपयोग किया है।



संथालों की गुर्ती प्रथा

पंचानन मिश्र

संथाल जाति का सम्पूर्ण धार्मिक, आर्थिक तथा सामाजिक जीवन ग्राम-सभा द्वारा संचालित होता है। इसकी ठोस सामूहिकता आजके सभ्य कहे जाने वाले समाज के लिये अनुकरणीय वस्तु है। संथाल परगने में आने के समय तक इसमें उत्थान और जीवन की सारी विशेषताएँ मौजूद थीं। भूमि पर उत्पादन के लिये नियतकालीन अधिकार था, स्थायी स्वामित्व का कोई प्रश्न ही नहीं था। हर वर्ष परिवार की आवश्यकता तथा क्षमता के अनुसार खेतों का वितरण होता था। आज भी संथालों को स्थान या खेत छोड़ते विशेष कष्ट नहीं होता। माघ-त्योहार (माघ-सिम) उस प्रणाली की विधि आज भी पूरी करता है। माघ में धान काट कर, खेत साफ कर लेने के पश्चात् गाँव भर के संथाल इकट्ठे होते हैं। इसी समय सरदार का निर्वाचन और भूमि का वितरण होता था। आज भी सरदार (माँझी) तथा अन्य पदाधिकारी अपने अपने पदों का त्याग करते हैं, और अन्त में रैयत बोलते हैं :—

"आले हो बाबाले मोकोजेना। जुगी जायगा को ले जिमावान काना माँझी बाबा। सेतोङ दिन भोर एकेन मारे डिण्डाले दो खोल इदिया। ओना दो वाले जिमावान काना। आर कुम्बा होले दोहो इदिगिया।"

अर्थात् "हम लोग भी ऊब गए हैं। जमीन जगह सरदार को जिम्मा देते हैं। गर्मी के दिन तक घर बनाने के लिये स्थान अपने अधिकार में रखेंगे। उसे जिम्मा नहीं दे रहे हैं, और झोपड़ी भी नहीं देंगे।"

आज खेतों का पुनर्वितरण नहीं होता और सरदार का नव-निर्वाचन भी नहीं। परन्तु विधि दोनों की पूरी की जाती है। नृतत्व शास्त्रियों का अनुमान है कि इन लोगों ने पशुपालन भी दूसरों से लिया है। ऐसी सामाजिक व्यवस्था के रहते धनी, गरीब, मजदूर, और शोषण का सवाल ही नहीं उठता। छोटे और बड़े बनने का आधार जड़ भौतिक नहीं होगा। जो अपनी योग्यता, बुद्धि, जातीय नियमों तथा विधियों के ज्ञान और समाज-सेवा के बल पर सरदार आदि चुना जाता था, वह सबके आदर का पात्र था; और बड़ा माना जाता था। भूमि वितरण आदि के कार्य वही करता था। दैवी विपत्ति से कोई दरिद्र बन सकता था। यदि किसी के घर के कमानेवाले व्यक्ति मर गए या खेतों में किन्हीं कारणों से कुछ उत्पन्न नहीं हुआ, तो वह भूखा रहता था या कष्ट से अपने दिन काटता था अथवा जाति के भाई और सम्बन्धी उसकी सहायता कर दिया करते थे। धीरे-धीरे इतिहास के चक्र और अन्य जातियों के सम्पर्क से इनमें खेतों पर स्थायी स्वामित्व की परिपाटी चल पड़ी और धनी गरीब के भेद हो गए। जिनके पास खेत थे वे धनी बन गए और जिनके पास नहीं थे वे दरिद्र। १७८२ में अंगरेजी राज्य की स्थापना के बाद क्लीमलैंड ने पहाड़िया लोगों के विद्रोह को शांत करने के लिये कई नए सुधार किए। आज भी पहाड़िया तथा संथाल क्लीमलैंड को चिलीमिली साहब के नाम से स्मरण करते हैं।

उन्होंने सरदारों को भत्ता देना शुरू किया। उनके पद स्थायी और पैतृक हो गए। इस प्रकार व्यक्तिगत सम्पत्ति का बीज बोया गया। इसी समय संथालों का आगमन संथाल परगने में हुआ और थोड़े ही दिनों में वे सर्वत्र छा गए। सरदारों के प्रभाव और अनुकरण पर मांझी आदि भी पद के कारण मिली भूमि के स्थायी स्वामी हो गए और पुनर्वितरण की परिपाटी समाप्त कर दी गई। यही कारण है कि संथाली में धनी, गरीब के लिये स्वतन्त्र शब्द नहीं हैं। धनी को 'किसाँड़' और गरीब को 'रेंगेच' कहते हैं। 'किसाँड़' स्पष्टतया किसान है। धनी का अर्थ ही था खेतवाला किसान। 'रेंगेच' का अर्थ है भूखा, रेंगेचहोड़ का अर्थ होता है भूखा आदमी। दरिद्र वही है जो भूखा हो, पहले दैवी विपत्ति के कारण पीछे खाद्योत्पादन के साधनों के अभाव में।

विषमता का अनिवार्य परिणाम है कि कुछ व्यक्ति दूसरों के लिये श्रम करें और अपनी मिहनत बेचें। आज संथालों में ऐसे लोगों की दो कोटियाँ हैं, एक में 'जोन' या 'मूनिस' और 'अचुहोड़' आएँगे तथा द्वितीय में 'गुती'। प्रथम कोटि के श्रमिक दैनिक मजदूर हैं, जिनको प्रायः सूखा सूखी आठ पाई धान या एक शाम भोजन और ६: पाई धान मिलता है। 'पाई' धान मापने का एक बर्तन है, जिसमें आधा सेर के करीब अँटता है। संथाली में अन्न के रूप में मिली मजूरी को 'बेरहोन' कहते हैं। 'बेरहोन' का मैथिली 'बन्नि' भोजपुरी, 'बनि' और पछाहीं के 'बन्नी' से निकट का सम्बन्ध जान पड़ता है। 'बन्नी' को कोषकारों ने देशज बताया है; क्योंकि इसकी व्युत्पत्ति का पता नहीं चलता। 'बेरहोन' इस क्षेत्र के गैर संथाली भी बोलते हैं। इसका मूल बेला + अन्न अर्थात् बेला के अनुसार मिला अन्न जान पड़ता है। 'ह' का आगम स्वाभाविक है। बिया + अन्न = वियहन, खाद्य + अन्न = खदिहन संथाली के साथ ही कई बोलियों में प्रयुक्त होते हैं। बन्नी शब्द भी वार + अन्न से निकला जान पड़ता है, या यह भी सम्भव है कि अन्न रूप में दी हुई मजूरी होने के कारण 'अन्नी' शब्द बना और फिर 'अन्नी' से 'बन्नी' का विकास हुआ।

'जोन' स्पष्ट रूप में संस्कृत का 'जन' है, जिसमें बंगला उच्चारण के प्रभाव से ज, जो बन गया है। यह शब्द खेतिहर मजदूर के लिये बिहार के एक बड़े भूभाग में प्रयुक्त होता है। 'मूनिस' और 'जन' पर्यायवाची हैं। मूनिस (मनुष्य) बंगाल में बोला जाता है। संथाल परगना का जो भाग बंगाल के निकट है, उसी में 'मूनिस' सुनाई पड़ता है। इतना निश्चित है कि जन और मूनिस शब्द संथालों को पीछे मिले हैं; बहुत दिनों के नहीं हैं। 'अचुहोड़' में 'अचु' प्रेरणार्थक है। 'गुरुजी ठेन इञ दाल अचुमेया' का अर्थ होता है 'गुरुजी से पिटवाऊँगा' (इञ = मैं, दाल = पीटना)। अस्तु 'अचुहोड़' का अर्थ हुआ वह मनुष्य (होड़) जिससे काम करवाया जाय।

'गुती' वह नौकर है, जिसे साल भर के लिये रखा जाता है। स्वामी भोजन, वस्त्र आदि देता है और पारिश्रमिक माता-पिता से निश्चित करता है। विशेषतया इस कार्य के लिये कुमार ही रहते हैं, विवाहित होनेपर अधिकांश अपना स्वतन्त्र घर बसा लेते हैं। उरावों में इसी प्रकार 'धांगर' रहते हैं। 'धांगर' शब्द का ही अर्थ अविवाहित युवक है। 'धांगर' और 'गुती' दोनों के साथ सुन्दर बर्ताव होता है और वह परिवार का ही व्यक्ति जैसा रहता है। संथाली के महान् पण्डित श्री बोडिंग ने संथाल डिक्शनरी (कोष) में 'गुती' को हिन्दी 'गोती' से व्युत्पन्न माना

है। अपने पट्टीदार को हिन्दी भाषा-भाषियों के समान संथाल 'गोतिया' ही कहते हैं, केवल 'आ' के उच्चारण में थोड़ा भेद हो गया है। उनमें सगोत्र और विगोत्र की विभाजक रेखा बड़ी स्पष्ट है। परन्तु आज 'गुती' केवल सगोत्री ही नहीं होते, विगोत्री भी रहते हैं, यद्यपि सगोत्री रहने में अधिक लाभ है। सगोत्र विवाह संथालों में महान् अपराध है, और सगोत्र अवैध सम्बन्ध भी प्रायः कम होते हैं। ऐसी स्थिति में चरित्र आदि के सम्बन्ध में काफी निर्भयता रहती है। लेकिन सदा ऐसे 'गुती' उपलब्ध नहीं हो पाते। इससे अनुमान किया जा सकता है कि प्राचीन काल में दैवी विपत्ति का मारा मातृ-पितृहीन बालक अपने 'गोतिया' के यहाँ परिवार के व्यक्ति जैसा रह जाता था। धनी-गरीब का भेदभाव स्थापित होनेपर यही शब्द उपचार से 'नौकर' के लिये प्रयुक्त होने लगा।

'गुती' प्रथा की उत्पत्ति के एक और मूल का अनुमान किया जा सकता है। उड़ीसा की जन-जातियों में 'गोती' की प्रणाली है, जिसे इनसे अर्द्ध परिचित विद्वानों ने दासता या अर्द्ध दासता का ही रूप मान लिया है। प्रसिद्ध जनसेवी तथा नृतत्त्व शास्त्री श्री लक्ष्मीनारायण साहु के अनुसार गोती एक प्रकार से शिष्यत्व की प्राचीन परिपाटी है। बच्चे किसी शिल्पी या गुरु के यहाँ काम सीखने के लिये छोड़ दिए जाते हैं। गुरु ही उन्हें खाना-पीना देते हैं और शिक्षादान के साथ साथ आवश्यकता तथा शक्ति के अनुसार थोड़ा बहुत काम भी लेते हैं। उड़ीसा की जन-जातियों में से कइयों ने अपनी भाषा छोड़कर उड़िया अपना ली है। ऐसी स्थिति में गोत या गोत्र के कुमार के लिये गोती का सम्बोधन असम्भव नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि अपने 'गोत' के ही बालक को 'गोती' बनाने या रखने की परिपाटी रही होगी। संथालों का 'गुती' शब्द 'गोती' से भी सम्बन्धित हो सकता है; और उनमें भी अनाथ होने से या काम सीखने की इच्छा से 'गुती' किसी के यहाँ रहता होगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। खेतों पर स्थायी स्वामित्व हो जाने से यह प्रथा विकृत हो गई और 'गुती' नौकर के रूप में परिणत हो गया।

गुती से प्रायः वही काम लिए जाते हैं जो पश्चिमी बिहार तथा उत्तर प्रदेश में चरवाहों से एवं इस क्षेत्र में 'धोरइ' और 'गुपी' से। 'धोरइ' ढोर जीवी का बदला रूप है तथा 'गुपी' 'गोपी' का। ये सब लोग ढोर चराते हैं, किन्तु यह अनिवार्य नहीं है। पशु चराने का कार्य गौण पड़ जाने के कारण जानवरों की देखभाल करनेवाला तथा इसके साथ ही घर के अन्य काम करनेवाला चरवाहा धोरइ या गुपी कहलाता है। गुती अधिकांश बालक और कुमार रहा करते हैं, इसलिए प्रायः पशु चराने की जिम्मेवारी ही उन पर रहा करती है; परन्तु चरवाहों के समान यह अनिवार्य नहीं है। लड़कों के समान लड़कियाँ भी अब रहने लगी हैं, जिन्हें 'दासी' या 'कड़मी' कहते हैं। साफ है कि यह 'कड़मी' शब्द 'कर्मी' है, जो भ्रान्ति से स्त्रीलिंग समझ लिया गया है।

ऋण देकर सदा के लिये या नियत समय के लिये 'जन' को बाँध लेने की—ऋणदास—प्रथा बड़ी व्यापक है। सामान्यतया ऋण के दो रूप हैं, अन्न-ऋण और द्रव्य-ऋण। इस क्षेत्र में अन्नऋण को 'डेढ़िया' कहा करते हैं; क्योंकि इसमें लिया गया गल्ला डेढ़ा लौटाना पड़ता है।

परन्तु बीज के लिये दिया हुआ अन्न दूना देना पड़ता है। आज भी संथाल 'डेढ़िया' बहुत कम लगाया करते हैं। वास्तव में यह परिपाटी उन्हीं के शोषण के लिये अन्य क्षेत्रों के अनुकरण पर यहाँ चलाई गई थी। वैषम्य के विकास तथा जातीय उदारता के विनाश के पश्चात् विपत्ति पड़ जानेपर पहले उधार लेने की परिपाटी चली, फिर स्वार्थ की वृद्धि हो जानेपर उधार लिए हुए अन्नादि को बढ़ाकर सवाया, डेढ़ा या दूना लेने का क्रम चला। जब द्रव्य विनिमय का साधन बना तब अन्न और द्रव्य दोनों का ऋण प्रचलित हुआ। यह परिपाटी सम्भवतः स्थिर कृषि-जीवन की ही देन है। पशुचारी यायावरों में स्थिरता नहीं थी, इसलिए ऋण देना सुरक्षित भी नहीं था। उनमें चकची जाति के समान अथवा संथाल गुती के समान विपत्ति और अभाव में किसी सम्बन्धी या गोतिया के यहाँ रह जाने के सिवा कोई चारा नहीं था। मृगया, चयन तथा उद्यानजीवी जातियों में उधार मौजूद है, परन्तु इस्किमो तथा जूनी जातियों के समान उनमें उदारता अधिक है, बदले तथा आय की भावना कम है। ऋण ने उस लोकाचार या व्यवहार को शोषण का एक साधन बना डाला है। आज भी कई बोलियों में ऋण देने-लेने को व्यवहार ही कहते हैं। भोजपुरी की कहावत है:—

इज्ज़त चाहे खेती करे, फजिहत चाहे व्यवहार।

ऋग्वेद की एक ऋचा से पता चलता है कि उस आरम्भिक काल में ही ऋणकी प्रणाली चल पड़ी थी। इतना ही नहीं, उनका शोषक रूप भी दिखाई पड़ने लगा था। कूर्मी गृत्समद ऋषि वरुण से प्रार्थना करते हैं:—

पर ऋणासावीरधमत्कृतानि माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम्।
अव्युष्टा इन्नु भूयसीरुषस आ नो जीवान वरुण तासु शाधि॥ २।२८।९

'हे वरुण! दूसरों ने अर्थात् पूर्वजों ने जो ऋण किया था, उसका शोध करो। मैं जो ऋण करता हूँ उसका भी परिशोध करो; ताकि मुझे दूसरों का उपार्जित न भोगना पड़े। ऋण के कारण ऋणकर्ता के लिये जैसे अनेक उषाओं का उदय ही नहीं होता। वरुण! सारी उषाओं में हम जीवित रहें, ऐसी आज्ञा करो।'

माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम्—मुझे दूसरों का किया हुआ या उपजाया हुआ नहीं भोगना पड़े', यह अंश बतलाता है कि यह ऋण सम्भवतः अन्न आदि उपभोग्य पदार्थों का ही था। गृत्समद अत्यधिक चिन्तित हैं, इससे शंका होती है कि यह उधार नहीं, ऋण था। यह स्थिति कृषि-जीवन की ही हो सकती है, जहाँ विजातियों का ही नहीं स्वजातियों का भी शोषण आरम्भ हो गया था।

आर्यों में उस दूरातीत में पनप कर भी यह ऋण संथालों में २५०—३०० वर्षों से अधिक का आया हुआ नहीं है। अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ ही एक ओर संथाल इस जिले में फैले, दूसरी ओर भोजपुरी और बंगाली व्यापारी अपनी तराजू, ऋण, डेढ़िया, दूना आदि का जाल लेकर घुसे। जनजातियाँ सीधी-सादी थीं, रुपयों का मूल्य वे नहीं जानती थीं। फिर तो ऐसे चक्र में पड़ीं कि निकलना कठिन हो गया। इन लोगों ने एक 'कामिया' या

कमियौती प्रथा चलाई। रुपये सूद पर देकर कागज लिखाया जाता था, जिसके अनुसार जन को तब तक ऋणदाता के घर काम करना पड़ता था, जब तक सूद के साथ सारे रुपये न वसूल हो जायँ। संथाली में ऋण और सूद के लिये कोई शब्द नहीं है। वे भी 'रिन', 'कर्ज' और 'सूद' ही कहते हैं।

१८५५–५६ में संथालों ने विद्रोह किया जिसे 'संथाल-हूल' कहा जाता है। इसके पश्चात् इन्हें शान्त करने का प्रयास किया गया और १८५८ में विलियम ले फ्लेमिंग रबिन्सन आई० सी० एस० ने इस कमिया प्रथा को समाप्त कर दिया। उन्होंने इसके दुष्परिणामों पर काफी प्रकाश डाला है। उनके कथनानुसार २५) सैकड़ा सालाना तक ब्याज लिया जाता था। एक बार फंस जाने पर 'साहु' के चंगुल से कमिया को निकल पाना कठिन था। संथालों के लिये कचहरी की पद्धतियाँ अगम्य थीं और वहाँ साहु को ही डिग्री मिलती थी। मूलधन से तिगुना, चौगुना दे देने पर भी असामी का पिण्ड नहीं छूट पाता था। कहा जाता है कि संताल हूल के अनेक कारणों से यह प्रथा भी थी। १८४१ में पुराने रामगढ़ के मैजिस्ट्रेट एस० टी• कुथवर्ट साहब ने एशियाटिक सोसायटी के समक्ष 'छोटा नागपुर' शीर्षक एक निबन्ध पढ़ा था। उन्होंने बतलाया था कि छोटा नागपुर में कृषि-दासता का एक मृदु-रूप उस समय प्रचलित था, और यदि गैर अधिवासी स्वामी होता तो एक कागज भी लिखा जाता था, जिससे ऋणकर्ता आजीवन या नियत समय के लिये बाँध लिया जाता था। इस कागज को 'सौनक' पत्र कहते थे। श्री शरत्चन्द्र राय के मतानुसार यह 'सौनक' नहीं, शायद 'सेवक' था। चाहे जो हो संथालों के 'गुती' और उरावों के 'धांगर', फ्लेमिंग रबिन्सन साहब के 'कमिया' और कुथवर्ट के सौनक या सेवक से नितान्त भिन्न हैं। ये उनकी अपनी परिपाटियों के विकास के फल हैं, परन्तु कमिया और सेवक अन्यों द्वारा शोषण के फल। कुछ लोगों ने इनमें एकता की कल्पना करके महान् भूल की है।

व्रजभाषा में रास परम्परा

दशरथ ओझा

व्रजभाषा की रास शैली ने भारतीय इतिहास के उस काल में जन्म लिया, जब वैष्णव धर्म की चर्चा देश में सर्वत्र सुनाई पड़ रही थी। बंगाल में जयदेव कवि का गीतगोविन्द अभिनय के साथ गाया जा रहा था। चैतन्य महाप्रभु जगन्नाथपुरी में अपने भक्त मित्रों के द्वारा कृष्णलीला का अभिनय दिखाकर जनता को मुग्ध कर रहे थे। यात्रीगण इस अभिनय की वार्ता दूरस्थ देशों में पहुँचा रहे थे। इस प्रकार भारतीय नाट्य साहित्य का एक नया अध्याय रचा जा रहा था। महाप्रभु के विद्वान् शिष्य प्रसिद्ध तीर्थों में इस नवीन नाट्य शैली का सन्देश पहुँचा रहे थे। कृष्णलीला की यह महत्वपूर्ण घटना कृष्ण के रासस्थल पर स्वयं महाप्रभु द्वारा पहुँच चुकी थी।

उस समय वृन्दावन पर्ण-कुटीर साहित्य के उद्भट आचार्य कृष्ण भक्तों के आवास बन रहे थे। स्वामी वल्लभाचार्य और हितहरिवंश राय के पर्णकुटीरों में भक्तों की भीड़ लग गई थी। प्रसिद्ध गवैया तानसेन के गुरु हरिदास जी भी वहीं आकर बस गए। इन आचार्यों के साथ उनका शिष्य वर्ग भी बसने को लालायित हो उठा। बंगाल से गौरांग जी ने अपने प्रसिद्ध शिष्य रूप गोस्वामी को यहाँ (वृन्दावन) बसने के निमित्त भेज ही दिया था। गौरांग के विद्वान् शिष्य श्री गदाधर भट्ट जी भी वृन्दावन में बस गए। इस प्रकार आचार्यों की एक नई बस्ती बस गई, जहाँ प्रतिक्षण राधाकृष्ण की लीलाओं का प्रसंग चलता तथा भागवत की कथा और नारद पंचरात्र का पाठ आदि होते रहते।

इन आचार्यों में एक आचार्य ऐसे थे जो राधा जी के परम उपासक थे। वे महात्मा राधिका जी के ऐसे भक्त हुए कि उनके संप्रदाय का नाम ही राधावल्लभ सम्प्रदाय पड़ गया। यह थे—महात्मा हितहरिवंश राय, जिनका जन्म संवत १५५६ विक्रमी में हुआ था और जो सांसारिक व्यवहार त्यागकर वृन्दावन के एक लताकुंज में नित्यप्रति ध्यान किया करते थे। कहा जाता है कि इस सूक्ष्मतत्त्वदर्शी महात्मा को सेवाकुंज[1] में नित्य राधिका जी के साथ कृष्ण जी का रासविहार दृष्टिगोचर होता था। कभी कभी यह महात्मा महारास[2] का दर्शन किया करते थे।

एक दिन रासविहार का प्रसंग छिड़ा। भक्तों में स्वभावतः जिज्ञासा हुई कि आचार्य जी को वृन्दावन में भगवान कृष्ण का जो रासविहार दिखाई पड़ता है वह किस प्रकार का है। साधकों की दृष्टि से तो वह नितान्त अदृश्य रहता है। स्वामी हरिदास जी भी मण्डली में विद्य-

---

१—माण्डव्य संहिता – सेवा कुंजेति विख्यातो श्री मद्वृन्दावनान्तरे।
राधया सह गोविन्दो यत्र क्रीडा करोति च।

२—महारास में कृष्ण अनेक कृष्ण के रूप में दिखाई पड़ते हैं।

मान थे। आचार्य हितहरिवंश जी ने 'घमंडी लाल'[१] महात्मा को बुलाया। उनको और स्वामी हरिदास जी को कुछ निर्देश किया। रासलीला में दृष्टिगोचर होनेवाली राधाकृष्ण की छवि के अनुरूप प्रसाधन हुआ। गोपियों का प्रसाधन हुआ। गोपियों का प्रसाधन स्वयं हितहरिवंश जी ने किया। इस प्रकार रासमंडल की तैयारी हुई।[२]

स्वामी हरिदास संगीत के धुरन्धर विद्वान् थे ही। हितहरिवंश जी के पद "आज बन नीको रास बनायो" तथा "खेलत रास दुलहिनी दूलह" को संगीत रूप में प्रस्तुत किया गया। अन्य महात्माओं ने भी सहयोग दिया। हितहरिवंश जी के साथ श्री वल्लभाचार्य तथा गदाधर भट्ट भी थे। इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी में इन आचार्य महात्माओं ने व्रजभाषा में सर्वप्रथम कृष्ण-रास-मंडल रचाया जिसमें नृत्य, संगीत और नाट्य को ही स्थान मिला।

रासलीला का दर्शन महात्मा हितहरिवंश जी को वर्षों की साधना के उपरान्त हुआ था। तपस्या करते करते सहसा आचार्य को एक दिन आनन्दानुभूति हुई और मुखसे निकल पड़ा—

कालिन्दी-तट-कुञ्जे,
पुंजीभूतं रसामृतं किमपि।
अद्भुतकेलिनिधानं,
निरवधि राधाविधानमुल्लसति।[3]

अर्थात्—कालिंदी तट के कुंज में कोई अनिवर्चनीय पुंजीभूत रसामृत एवं निरवधि अद्भुत केलि निधान श्री राधा नामक स्वरूप उल्लसित हो रहा है। अब तो आचार्य की साधना सफल हुई। उन्होंने प्रत्यक्ष एक छटा देखी जिसका वर्णन करते हुए मुख से निकल पड़ा।

आज नागरी किशोर भाँवती विचित्र जोर
कहा कहों अंग अंग परम माधुरी,
करत केलि कंठ मेलि बाहु दंड गंड-गंड
परस सरस रास लास मंडली जुरी।
स्याम सुन्दरी विहार बांसुरी मृदंग तार
मधुर घोष नूपुरादि किंकनी चुरी
देखत हरिवंश आलि निर्त्तनी सुधंग चालि
वारि फेरि देत प्रान देह सों दुरी॥[४]

१. महात्मा घमंडी लाल उस समय नाटक अभिनय के लिये प्रसिद्ध थे।
२. रासलीला के प्रथम संस्थापकों के नाम के सम्बन्ध में मतभेद है। कोई श्री वल्लभाचार्य जी को और कोई श्री नारायण भट्ट जी को संस्थापक मानता है।
३. राधा सुधानिधि (हितहरिवंशराय) पृ० ११७
४. राधा सुधा निधि पृ० ४६

आचार्य ने उस रास-लास पर मुग्ध होकर अपने शरीर से प्राण चुराया और उस छटा पर निछावर कर दिया। इस प्रकार कुछ लोगों के मतानुसार रास की उत्पत्ति हुई और उसी को आचार्य ने भक्तों को सिखाया, यह रासलीला भक्तों और साधकों को इतनी मनोमुग्धकारी प्रतीत हुई कि महात्मा घमंडीदेव ने इसका प्रतिदिन प्रदर्शन करने के लिये पूरी शिक्षा दी। उस समय अकबरी दरबार से अवकाश प्राप्त नृत्य कला का चतुर कलाकार वल्लभ भी वृन्दावन में आ बसा। उसने पात्रों को नृत्य की शिक्षा दी। स्वामी हरिदास जी ने संगीत सिखाया। इस प्रकार रास मंडली की ख्याति फैलने लगी और तीर्थयात्री रास का दर्शन करना भी धर्म का अंग समझने लगे। तब से अर्थात् विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के अन्त से लेकर आज २१वीं शताब्दी विक्रम तक रासलीला का यह क्रम निरन्तर चलता आ रहा है। किंतु उसका अर्थ यह नहीं है कि हितहरिवंश जी से पूर्व रासलीला का प्रदर्शन होता ही नहीं था।

बारहवीं शताब्दी में श्री बोपदेव रचित श्रीमद्भागवत में कृष्णलीला[1] के रास का उल्लेख पाया जाता है पर क्या बारहवीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी तक ४०० वर्ष के दीर्घ-काल में कृष्ण रास रचा ही नहीं गया होगा? इस काल में कृष्ण-रास का उल्लेख न मिलने से यह प्रमाणित नहीं होता कि इस काल में कृष्ण-रास का प्रदर्शन नहीं होता था। वर्णनाभाव के तर्क का प्रमाण जंचता नहीं। बारहवीं शताब्दी में विरचित श्रीमद्भागवत की कृष्ण रासलीला के प्रमाण से तथा राजस्थानी रास की उपलब्धि से तत्कालीन कृष्णलीला की रासपद्धति का अनुमान किया जा सकता है। यह पृथक गवेषणा का विषय है जिसपर कार्य होना चाहिए।

गोलोक में रासलीला का दर्शन प्रत्यक्ष रूप से करने वाले कई महात्माओं के सम्बन्ध में जनश्रुतियाँ पाई जाती हैं। गुजरात में घर घर यह सुना जाता है कि नरसी मेहता गोलोक में होने वाली रासलीला को जब देख रहे थे तो वह रास मंडल के मध्य में दीपक लेकर खड़े थे। वह इतने ध्यानावस्थित थे कि दीपक से हाथ जलने का भी ज्ञान उन्हें न हुआ। अन्त में कृष्ण ने स्वतः उनका हाथ जलने से बचाया। इसी प्रकार श्री वल्लभाचार्य आदि महात्माओं का रासलीला को गोलोक में प्रत्यक्ष देखना अनुश्रुति के रूप में आज तक चली आती है। इससे एक बात तो प्रत्यक्ष हो जाती है कि इस लीला का प्रसार अल्प काल में सारे देश में होने का श्रेय इन महात्माओं की साधना को ही है। आज भी गुजरात में गाँव-गाँव में रास का प्रचार है। गुजरात के कुछ विद्वान तो यह भी कहते हैं कि रास का सर्वप्रथम उद्भव सौराष्ट्र में ही हुआ।[2] श्री नरसिंह मेहता इसके संस्थापक थे। संस्थापन की समस्या पर आगे विवेचन किया जायगा।

रासलीला प्रतिदिन वृन्दावन में किसी न किसी देवालय या कुंज अथवा कालिंदी पुलिन पर होती है। इसके लिये यात्रा नाटक के सदृश पर्दे और नाटक संबंधी अन्य आडम्बर की आवश्यकता नहीं होती। लकड़ी की कुर्सियों पर गद्दे और ऊपर स्वच्छ चादर डालकर कहीं

१—श्रीमद्भागवत दशमस्कंध अध्याय २९—३३

२—The Types of Sanskit Drama by D. R. Mankad Page 142

भी रंगमंच बना दिया जाता है। जनता चतुर्दिक बैठ जाती है, स्त्रियाँ एक ओर, और पुरुष दूसरी ओर। राधाकृष्ण तथा सखियों का आगमन होते ही जनता खड़ी हो जाती है। समीपवर्ती भक्तगण—अति वृद्ध साधु महात्मा भी चरण स्पर्श को दौड़ पड़ते हैं। राधाकृष्ण के आसनासीन होने पर नान्दी-पाठ आरम्भ होता है जिसमें जयदेव के गीतगोविन्द, आचार्य वल्लभाचार्य तथा आचार्य हितहरिवंश आदि के स्तोत्रों से वन्दना होती है। तदुपरांत एक सखी कृष्ण से कहती है—"रास को समय है गयौ अब आप पधारें" कृष्ण खड़े होकर राधिका जी से निवेदन करते हैं—

"राधे, रूप उजागरि श्यामा करियो कृपा की कोर" संगीतज्ञ कृष्ण के गान को वाद्य के साथ पुनरावृत्ति करते हैं। आगे कृष्ण फिर निवेदन करते हैं—

"रसिकन रजधानी राधिका महारानी कृपा करि हेरो,
मग जोवत राधे तेरो···
चलौ चलैं सब बन की ओर
करिए कृपा की कोर।
राधे भानु-कुमारी।"

राधिका कहती हैं—नन्दकिशोर मोहन कुंजविहारी।

कृष्ण कहते हैं—चलिए सघन बन की ओर ओमम प्राण पियारी।
बोलत चातक मोर, फूली अति फुलवारी।

राधे— मैं न चलूँ बन की ओर तू नटखट गिरधारी।
(दर्शक कृष्ण भगवान की जय जयकार करते हैं)
तुम प्रीतम चित चोर उलटी रीति तुम्हारी।

कृष्ण— हा! हा! काह बतावत चोर, तुम चितचोर निहारी।
निरखो कृपा की कोर तुम राधा प्यारी
ब्रज बनितन सिरमौर, तुम भोली भाली।"

अब राधा जी उठती हैं और सखियों के साथ कृष्ण नृत्य दिखाते हैं। कभी केवल कृष्ण और राधा का नृत्य होता है, कभी सभी साथ मिलकर और कभी एक एक अलग-अलग नृत्य दिखाते हैं। जिस मंडली के नृत्य और संगीत में कला होती है, उसकी प्रतिष्ठा और प्रशंसा होती है और दर्शक अच्छे अभिनेता कृष्ण तथा राधा पर द्रव्य निछावर करते हैं। नृत्य के उपरान्त कृष्ण का यह गाना मधुर स्वर में दर्शकों तथा यात्रियों को मुग्ध बना देता है और वे अपनी यात्रा सफल समझते हैं।

गीत

"जो रस बरस रह्यौ ब्रज माहीं
याको दर्शन औ कहुँ नाहीं।"

अब कृष्ण अपने पूर्वावतारों से कृष्ण अवतार की तुलना करते हैं—

"रामलला कब घर घर धायो,
पकरि पकरि कब हिए लगायो।
दै दै माखन कौने नचायो-
बावन बनकर लम्बे हो गयौ।
जौ अस देखति यसुमति माता,
बांधि तौं लेती कैसे हाथा।"

वृन्दावन का सुख वर्णन करते हैं—

राजपाट को नाहिं करैया, ओढ़ि कमरिया गाय चरैया।
रथविमान पर नाहिं चढ़ैया, गरुड़ पीठ पर नाहिं उड़ैया।
पाँवन पाँवन नंगे डौलौं ब्रज रज सम कोउ नाहिं
जो रस बरस रह्यौ ब्रज माहीं,
याकौ दरसन औ कहुँ नाहिं

इसके उपरान्त आरती की जाती है प्रेक्षक खड़े हो जाते हैं और राधाकृष्ण की स्तुति करते हैं।[1]

कृष्ण रास और जैन-रास

कृष्ण रास और जैन रास में पहला अन्तर यह है कि कृष्ण रास में राधा और कृष्ण का प्रेम प्रदर्शित किया जाता है, किन्तु जैन-रास में जैनियों के उपास्यदेव अथवा तीर्थंकर का चरित्र प्रदर्शित किया जाता है। दूसरा—कृष्ण रास में कृष्ण के अतिरिक्त और कोई नायक नहीं हो सकता, किन्तु जैन रास में कोई जैनी साधु-महात्मा, सेठ-साहूकार, धनी-मानी-दानी भी नायक हो सकता है। तीसरा—कृष्ण रास के सभी नाटक एकांकी मिलते हैं और वे एकांकी इस ढंग से रचे गए हैं कि दो या दो से अधिक का भी अभिनय एक साथ किया जा सकता है, किन्तु जैन-रास में एकांकी और पूर्ण नाटक दोनों उपलब्ध होते हैं।

१—भक्तगण आरती के समय धन दान करते हैं। रास मंडली वालों की यह आय होती है। इसी के द्वारा वे अपनी मंडली का व्यय चलाते हैं।

लाल बेग की उत्पत्ति

हरदेव बाहरी

मेहतरों की दो जातियाँ हैं—हिन्दू मेहतर अपने को वाल्मीकि कहते हैं और मुसलमान लाल बेगी। मूल में दोनों एक हैं, धर्मपरिवर्तन के कारण भेद हो गया है। मूल में वाल्मीकि और लाल बेग भी एक ही हैं। उर्दू में वाल्मीक को लाल बेग पढ़ा गया जान पड़ता है। एक नुक्ते (बिंदु) के हेर-फेर से एक नवीन जन-मान्यता उपस्थित हो गई है। स्वयं लाल बेगी मेहतर भी निश्चित रूप से यह नहीं बता सकते कि लाल बेग कौन थे। इन के संबंध में अनेक लोकवार्ताएँ प्रचलित हैं। इन में किसी एक पर भी सहज में विश्वास नहीं किया जा सकता। लोकवार्ता में तर्क या बुद्धि का स्थान प्रायः गौण रहता है। परम्परा से जो विश्वास चल पड़ा है वही मान्य है।

कहते हैं कि लाल बेग वाल्मीकि के पुत्र थे। सृष्टि के आरम्भ में सर्वत्र शून्य था। ब्रह्मा (रब्ब) ने वाल्मीकि को उत्पन्न किया और उसे यह कार्य दिया गया कि वह ब्रह्मासन की सीढ़ियों को साफ किया करे। एक बार ब्रह्मा ने कहा—"वाल्मीकि, तुम बूढ़े हो गए हो, तुम्हें कुछ पुरस्कार दूँ।" दूसरे दिन जब वह सीढ़ियों पर झाड़ू देने गया तो रब्ब की दया से उसे एक चोला मिला। चोला लाकर उसने घर के एक कोने में रख दिया और काम में लग गया। ब्रह्मा की शक्ति से उस चोले से एक बच्चे का जन्म हुआ। वाल्मीकि ब्रह्मा के दरबार में दौड़ा गया और बोला—"इस दास को जो चोला प्रदान किया था उसमें से एक बच्चा निकल पड़ा है। यह क्या है ?" उत्तर मिला—"तुम बूढ़े हो गए हो, तुम्हारे बाद झाड़ू देने वालों का गुरु यही बच्चा होगा। इसकी उत्पत्ति 'ला इल्ला अल्लाह' से की गई है। इसका नाम नूरी शाहबाला होगा।" वाल्मीकि ने कहा—पर मेरे पास दूध नहीं है। इस पर हुक्म हुआ कि घर जाओ और जो पशु मिले उसी का दूध पिलाओ। रास्ते में उसे एक ससी (खरगोशनी) मिली जो अपने बच्चों को दूध पिला रही थी। वाल्मीकि इसी को घर ले गया और अपने बच्चे का पालन-पोषण करने लगा। यह बच्चा बड़ा होकर लाल बेग के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

लाल बेगी मेहतर खरगोश का मांस नहीं खाते।

उपर्युक्त विश्वास दिल्ली और आगरा के आस-पास के लाल-बेगियों में पाया जाता है। पूर्वी पंजाब में एक अन्य कथा सुनी गई है—

हज़रत पैगम्बर इलियास ख़ुदावंद के दरबार में गए। अचानक इन्हें खांसी आई। थूक फेंकने के लिये उठ न सके—थूक दरबार में उपस्थित दूसरे पैगम्बरों पर जा पड़ी। ख़ुदा-वंद ने आज्ञा दी कि इसका प्रायश्चित्त करो और दुनिया में जाकर झाड़ू दो। इलियास मेहतर बन गए। दरबार से निकलते समय उन्होंने गिड़गिड़ाकर कहा—"हजूर मेरा उद्धार कैसे

होगा ?" खुदावंद ने फरमाया—"जाओ, इसका प्रबन्ध हम करेंगे।" दुनिया में आकर इलियास झाड़ू देने लगे। एक दिन बड़े पीर साहब (पीर दस्तगीर हज़रत अब्दुल कादिर जिलानी सन् १०७८–११६६ ई०) ने इलियास के काम से प्रसन्न होकर उसे अपना जामा उतार कर इनाम दे दिया। इलियास उसे मटके में डाल दिया कि किसी शुभ दिन को पहनेंगे। एक दिन पीर ने पूछा कि जामा क्या हुआ ? कहने लगे—"मेरा काम झाड़ू लगाना है, इससे तो वह मैला हो जायेगा।" पीर ने फरमाया—"आज पहनकर मेरे पास आओ।" इलियास घर गए, मटका जो खोलने लगे तो खोल न सके, उसका मुँह ढक्कन से पक्का बन्द हो गया था। उन्होंने पीर साहब को जा बताया। हुक्म हुआ कि जाओ, और घड़े को कहो कि पीर साहब ने बुलाया है। इलियास घड़े को सिर पर उठा लाए। पीर साहब ने कहा—"निकल आओ लाल,बेगि।" यह सुन, एक गोरे रंग का आदमी लाल भेख में घड़े में से निकल पड़ा। पीर ने कहा—"अल्लाह का हुक्म है कि तुम मेहतरों के नबी (पुरोहित) बनो और उनका उद्धार करो।" इलियास उसे घर ले गए, उनके लिए हुक्का भरा और पूजा की।

इस कथा के अनुसार 'लाल बेग' शब्द 'लाल, बेगि निकलो' के कारण व्युत्पन्न हुआ अथवा लाल भेख (वेष) से बना। जन-निरुक्ति का यह सुन्दरतम उदाहरण है। शब्द के कल्पित अर्थ को लेकर लोककथा का विकास किस ढंग से होता है इसका भी यह अच्छा दृष्टान्त है।

कहते हैं कि सतयुग में वह मटका सोने का था, त्रेता में चांदी का हो गया, द्वापर में तांबे का और कलियुग में मिट्टी का। लाल बेगी प्रत्येक पर्व-त्योहार पर मटके की पूजा करते हैं और लाल बेग की कुर्सियाँ गाते हैं। कुर्सियों के बोल इस प्रकार हैं—

सोने का घट　　सोने का मट
सोने का घोड़ा　　सोने का जोड़ा
सोने की कुंजी　　सोने का ताला
सोने का किवाड़　लाओ कुंजी खोलो किवाड़
देखो दादा पीर का दीदार

इसे सतयुग की कुर्सी कहते हैं। त्रेतायुग की कुर्सी में 'सोने' की जगह 'चांदी' शब्द लाते हैं—चांदी का घट, चांदी का मट इत्यादि। इसी प्रकार 'तांबे का घट' और फिर कलियुग की कुर्सी गाते हुए 'मट्टी का घट, मट्टी का मट' आदि बोलते हैं।

पश्चिमी पंजाब में एक अन्य कथा प्रचलित है—

शेख सरना मुलतान (आजकल पश्चिमी पाकिस्तान में) के रहने वाले थे। रोज़ा, नमाज़, ज़कात सबके पाबन्द थे, पर उनको सन्तान का सुख न था। वे पीर अब्दुल कादिर जिलानी के पास पहुँचे। उन्होंने कहा—"गज़नी जाकर बालनीक की मिन्नत करो।" शेख सरना अपनी पत्नी को लेकर चल पड़े। जब शहर गज़नी के करीब पहुँचे तो खेतों में एक लड़की सूअर चरा रही थी। उससे इन्होंने पीर बालनीक का घर पूछा। वह कहने लगी—

मैं उन्हीं की लड़की हूँ। शेख सरना बड़े प्रसन्न हुए। पत्नी को लड़की के साथ भेजा और आप सूअर चराने लगे। पत्नी ने बालनीक की बड़ी सेवा की। वे प्रसन्न होकर बोले—कुछ माँग। बेचारी और क्या माँगती। कहने लगी, मेरे सन्तान नहीं है। बालनीक ने वर दिया कि तुम्हारे एक महात्मा पुत्र होगा, उसका नाम लाल बेग रखना।

पति-पत्नी घर आए। बारह वर्ष बाद उन्होंने लाल बेग को गुरु बालनीक के पास गज़नी भेजा। लाल बेग ने उनकी बड़ी सेवा सुश्रूषा की। बालनीक ने उसे अपने चेलों का गुरु और अपना उत्तराधिकारी बना दिया। बाद में वह उनके साथ काबुल और कश्मीर भी गया। अन्त में थानेसर में बालनीक का देहान्त हुआ। यहीं इनकी दरगाह भी है। लाल बेग दिल्ली चले आए और वहाँ धर्म की स्थापना की।

एक और कथा उत्तरी भारत में कही जाती है। इसके अनुसार लाल बेग के पिता मुगल थे। उनके जब कोई सन्तान न थी तो वे वाल्मीकि के पास जंगल में सहायतार्थ पहुँचे थे। वाल्मीकि की उपासना से उनके घर में लाल बेग का जन्म हुआ। इन्हीं दिनों पांडव यज्ञ कर रहे थे, जो समाप्त होने को नहीं आ रहा था। एक महात्मा ने कहा कि वाल्मीकि इसमें सम्मिलित होंगे तभी यह पूर्ण हो सकेगा। पांडव रथ में सवार होकर वाल्मीकि के आश्रम में आए। बड़ी खोज के बाद ऋषि मिले, पर वे कोढ़ से भरे थे। पांडव उन्हें रथ पर चढ़ाकर ले गए। द्रौपदी ने छः पुरुषों (पाँच पांडव और वाल्मीकि) का भोजन तैयार किया। यह भोजन बटोरकर २॥ कौर में वाल्मीकि ने खा लिया। उसी समय २॥ शंख-ध्वनियाँ सुनाई दीं। यज्ञ पूर्ण हुआ। वाल्मीकि ने इस यज्ञ का सारा फल लाल बेग को दे दिया, जिससे लाल बेग बड़े शक्तिमान हो गए। बाद में वाल्मीकि ने उन्हें अपना उत्तराधिकारी बना दिया और वे मेहतरों के पूज्य हुए।

यह बात उल्लेखनीय है कि प्रत्येक लाल बेगी मेहतर के घर के आगे २॥ ईंट का मन्दिर लाल बेग के नाम बना होता है।

एक कथा के अनुसार लाल बेग शिव की सन्तान थे। एक बार कामदेव ने शिव पर विजय प्राप्त की। शिव काम से मत्त हुए और नट रूप में विचरने लगे। उनके शुक्र का एक भाग अंजना के कान में पड़ा, जिससे हनुमान की उत्पत्ति हुई। कुछ भाग लाल पत्थर पर पड़ा, जिससे लाल बेग की उत्पत्ति हुई। एक भाग सरकंडे पर पड़ा जिससे सरकंडनाथ की उत्पत्ति हुई। कुछ भाग गोबर पर जा पड़ा। इससे गोबरनाथ उत्पन्न हुए। शेष भाग शिव के नदी में स्नान के कारण मछली निगल गई; इससे मच्छिन्दरनाथ उत्पन्न हुए।

मगही कहावतें

श्रीकान्त शास्त्री

एक समय मुझे केवल कालिदास, श्रीहर्ष, बिहारी और सूर पर ही अभिमान था। पर लोकगीतों की कुछ पंक्तियों ने मेरी दिशा ही बदल दी। चम्पारन निवासी पं० गणेश चौबे जी ने मुझे इस ओर प्रेरित किया और मैं घूम-घूमकर लोक-साहित्य का संकलन करने लगा। अब तो मेरे संग्रह में लगभग ३००० लोकगीत संगृहीत हैं। मैंने लगभग ४००० पारिभाषिक मगही शब्द बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् को भी दिए, जो बिहारी भाषाकोष में प्रकाशित होंगे। इसके अलावा उक्त परिषद् को मैंने लगभग १००० मगही कहावतें तथा ६०० की संख्या में मगही मुहावरे भी दिए हैं। फिर भी बहुत से शब्द, कहावतें तथा मुहावरे मेरे पास संगृहीत हैं।

जिस समय मैं इस कार्य की ओर अग्रसर हुआ था, उस समय समझता था कि यह काम चार छः महीने से अधिक का नहीं है। पर ज्यों-ज्यों इस कार्य की ओर आगे बढ़ता गया त्यों-त्यों इसकी गहनता का अनुभव होता गया। अब तो ऐसा लगता है कि अकेले मगही क्षेत्र में मेरे जैसे कई कार्यकर्त्ता अपने सम्पूर्ण जीवन को लगा दें, तो भी शायद यह काम पूरा न हो सके। अकेले लोकगीतों का काम ही इतना विस्तृत और जटिल है कि एक एक गीत-गायक अनेक गीत-संग्राहकों को थका देने के लिये काफी है। शब्दों और कहावतों के संबंध में भी यही बात लागू होती है। अकेले एक घसिहार ने मुझे दो अढ़ाई सौ घास के ऐसे नाम बताए जो बूटी-शास्त्र में नहीं हैं। एक मगही पानड़ ने इतने पमाड़ों की चर्चा की कि मैं दंग रह गया। उन पमाड़ों को प्रकाश में आने पर मगध के इतिहास को फिर से लिखना पड़ेगा।

पहले मैं समझता था कि मगही कहावतों की संख्या अधिक से अधिक सौ होगी। पर जब मैंने स्वयं अपनी स्मृति के सहारे पाँच सौ कहावतों को लिपिबद्ध किया; तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। एक एक व्यक्ति से मुझे सैकड़ों नई नई कहावतें प्राप्त हुईं और तब मुझे लोक-साहित्य की गहराई का थोड़ा भान हुआ। आज 'जनपद' के श्री बैजनाथ सिंह विनोद जी के कहने से मगही कहावतों के संबंध में थोड़ा प्रकाश डाल रहा हूँ।

कहावतें प्रत्येक भाषाओं और बोलियों में पाई जाती हैं। प्रत्येक भाषा की कहावतें अपनी अपनी विशेषताएँ रखती हैं। उनसे भाषाविज्ञान के विद्यार्थियों को तो लाभ होता ही है साथ ही उनसे समाज-शास्त्र के छात्रों को भी नए तथ्य प्राप्त होते हैं। यही कारण है कि लोक-गीतों के साथ साथ कहावतों का संग्रह भी लोक-साहित्य-संग्राहकों के लिये कर्त्तव्य सा हो जाता है।

मगही कहावतों को हम प्रायः छः भागों में आसानी से बाँट सकते हैं। (१) प्रसिद्धि-संबंधी (२) कथात्मक (३) नीतिमूलक (४) व्यङ्ग्यात्मक (५) कृषि-संबंधी (६) फुटकर।

प्रसिद्धि सम्बन्धी कहावतों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं (१) स्थान मूलक (२) जाति मूलक। स्थान मूलक या जाति मूलक कहावतों का स्थानीय मूल्य तो होता ही है, इसके साथ ही इतिहास, समाजशास्त्र और नृ-तत्त्व की दृष्टि से भी ये विचारणीय हैं। सर्व-प्रथम स्थान मूलक प्रसिद्धि सम्बन्धी कहावतों को लें। लोकगीतों में मगह का नाम मुझे एक स्थान को छोड़ कर अन्यत्र कहीं नहीं मिला है। पर लोकोक्तियों में बहुत स्थान में मगह, मगहिया और मगही शब्द आए हैं। भाषा विज्ञान के आचार्य ग्रिअर्सन ने अपनी 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया' में मगही की चर्चा की भूमिका में ही नीचे की कहावत का उल्लेख किया है।

'मगध देस कंचना पुरी।
सभ भला लेकिन भाषा बुरी॥

इसके नीचे की पंक्ति के कई पाठ प्रचलित हैं, पर भाव साम्य है। मगध की भूमि उर्वरा अतः सोने की है। पर इसकी बोली मगही बुरी है।

इसके अतिरिक्त अनेक कहावतों के द्वारा मगही भाषा की बुराइयों की ओर संकेत किया गया है; जिनमें दो प्रचलित हैं।

(१) हलियौ मगहिया कहलियौ रे!
एकराला कि मारमँ रे!

मैं मगही था, अतः (अभ्यासवश) रे शब्द का उचारण किया तो क्या मुझे इसके लिये मारोगे?

(२) मगह के लोग बुरबकवा।
सुकुर के कहे भुरुकवा॥

मगध के लोग बेवकूफ हैं। वे शुक्र (तारा) को भुरुकवा कहकर पुकारते हैं।

एक कहावत और भी प्रचलित है।

मगही पान मिठा।
मगही बोली खट्टा॥

मगध का पान बड़ा सुस्वादु होता है, पर मगही बोली बुरी लगती है।

मगही बोली की तरह मगह देश को भी कुछ लोग बुरा समझते हैं।

मग्गह मरे से गदहा होय।

अर्थात् मगध में मरने वालों का जन्म गदहे का होता है।

मगही बोली के सम्बन्ध में एक और भी कहावत प्रचलित है, जो बिहार की अन्य बोलियों के साथ वर्णित है।

कसमस कसमरा किना मगहिया ।

का भोजपुरिया कि तिरहुतिया ॥

सारन जिला की बोली में क्या का रूप 'कस', मगही में 'किना' भोजपुरी में 'का' और मैथिल में 'कि' होता है।

अब छोटे बड़े स्थानों के सम्बन्ध की कहावतों को लें। पटना मगध की राजधानी है। उसके सम्बन्ध में यह कहावत प्रसिद्ध है।

एक्का, ओकील, गदहा ।

इ तीनों पटना में सधा ॥

एक्का (गाड़ी), वकील और गदहे ये तीनों पटने में बहुत हैं।

गया मगही का केन्द्र होते हुए एक पुण्यधाम भी है और उसके विषय में यह कहावत प्रचलित है—

मच्छर, मोख्तार, मुलहजादी ।

इ तीनों गया के आबादी ॥

गया में मच्छड़, मुख्तार तथा मुलाहजादे अधिक रहते हैं।

बिहारशरीफ, जो मुसलमानों का एक तीर्थस्थान तथा अवलोकितेश्वर बुद्ध का जन्मस्थान माना जाता है, उसके सम्बन्ध में नीचे लिखी कहावत मशहूर है—

तुरुक, ताड़ी, तार—इ तीनों बिहार ।

तुर्क, ताड़ी और ताड़ बिहार में अधिक पाए जाते हैं।

नालन्दा (बड़गाँव) के सम्बन्ध में इस प्रकार की लोकोक्ति है—

बोले आवे बनारस जाय ।

चले आवे बड़गाँव जाय ॥

जिसे बोलना आता है वह बनारस जाय और जिसे चलना आता है वह बड़गाँव (नालन्दा) जाय।

नालन्दा में पोखरे अधिक हैं, सूर्य का मन्दिर भी है। अतः समझ बूझकर चलने वालों को ही वहाँ जाना चाहिए।

द्राविड़ प्राणायाम की चर्चा हिन्दी में खूब प्रचलित है। मगही में इसके बदले है :—

'गया के राह कोर मथ्थू।'

जाति सम्बन्धी कहावतों को लिखते समय मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मेरा किसी भी जाति से कोई राग-द्वेष नहीं है। मैंने लोक-ज्ञान की दृष्टि से संग्रह किया है और उसी दृष्टि से यहाँ लिख भी रहा हूँ।

मगध में भूमिहारों की संख्या अधिक है। यही यहाँ के धनी और साधन सम्पन्न माने जाते हैं। इनको यहाँ लोग 'बाभन' भी कहते हैं। बाभनों के सम्बन्ध में बहुत सी कहावतें प्रचलित हैं। बाभन की व्युत्पत्ति मगध के लोक-साहित्य में इस प्रकार है— 'बा, बाप के न; भा, भाई के न अउ न केकरो न।'

मगध में तीन प्रकार के ब्राह्मण अधिक संख्या में पाए जाते हैं (१) शाकद्वीपीय (२) श्रोत्रिय (३) कान्यकुब्ज। इनके अतिरिक्त डीहा या ज्योइसी ब्राह्मण भी पाए जाते हैं। शाकद्वीपीय ब्राह्मणों का भूमिहारों से यजमान और पुरोहित का नाता देखा जाता है। शाकद्वीपीय ब्राह्मणों के सम्बन्ध में भी कई तरह की कहावतें प्रचलित हैं। इनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि ये तीन जकारादि के सर्वदा शिकार रहते हैं।

सकल दीपी गुनी बहुत हैं विद्या बुद्धि विवेक।
लखत लखत पै लखि परे सौ ठग्गन में एक॥

कान्यकुब्जों और श्रोतियों के सम्बन्ध में नीचे लिखी लोकोक्ति चलती है।

करमहीन कनौजिया कि लड़त लड़त मर जाय।
खखनल जात सरोतरी कि कच्चा खिचड़ी खाय॥

कान्यकुब्ज ब्राह्मण भाग्यहीन हैं, जो लड़ते लड़ते मर जाते हैं। श्रोत्रिय जाति के लोग इतने लालायित होते हैं कि कच्ची ही खिचड़ी खा सकते हैं।

कोइरी और कुर्मियों की संख्या भी मगध में कम नहीं है। यह कृषिजीवी जाति है। घाघ ने 'कुरुम केतारी लेमुआ बिन चापे रस न देय', कहकर उद्घोषित किया है। मगही में इस जाति के लिये भी कहावतें प्रचलित हैं।

कोइरी कुरमी जन का?
मडुआ मकई अन्न का?

कोइरी और कुरमी भी कोई कोई जाति है? मडुआ और मकई भी कोई अन्न है?

ग्वालों पर बहुत सी लोक-कथाएँ और कहावतें हैं :—

जो उपजे तरहत्थी में बार।
तइयो न करे गोवार के एतबार॥

राजपूत के सम्बन्ध में भी कुछ कहावतें प्रचलित हैं।

जहाँ चार रजपूत—उहाँ बात मजगूत।

जहाँ चार राजपूत इकट्ठे होते हैं वहाँ, उनकी बात पक्की होती है।

हजाम की चर्चा भी बहुत कहावतों में है। जैसे—

आदमी में नउआ, पंछी में कउआ और पेड़ में झउआ।

हजाम को मगध में ठाकुर भी कहा जाता है! अतः उनके सम्बन्ध में यह कहावत प्रचलित है।

'ठाकुर ठाकुर तीन ठाकुर; नौआ ठाकुर, बाभन ठाकुर, पत्थल ठाकुर।

इसी तरह तीन प्रकार के साहु भी माने गए हैं।

'साव साव तीन साव, सोनार साव, तेली साव·····कानु साव।

बनियों के सम्बन्ध में गिरधर जी ने 'बनियाँ अपने बापको ' कहा ही था पर मगही कहावतों में उसका दूसरा रूप है।

बनियाँ रीझे तो हँस दे।

जातियों के पेशों के सम्बन्ध में भी कहावतें प्रचलित हैं। जैसे—

उग्गे तारा तो चले सोनारा।

शुक्र उगते ही सोनार का व्यापार चालू हो जाता है।

दू बढ़ही एक लोहार।
बाले बच्चे लगे कोंहार॥

बढ़ही दो मिल कर काम करता है और लोहार अकेले। पर कोंहार को बाल-बच्चों के साथ लगना पड़ता है।

कहावतों में कायस्थ को बड़ा ही होशियार समझा गया है।

काइथ के लावा कोइरी खाय ?

कायस्थ का अन्न कोइरी खा जाय, यह असम्भव है!

दूसरी श्रेणी की कहावतों को हम कथात्मक कहावत कह सकते हैं। ये बड़ी ही मनोरंजक और शिक्षा-प्रद होती हैं। स्थानाभाव के कारण यहाँ कुल तीन-चार दी जाती हैं।

तार तरे राम राम भईंस तरे बुरबकवा।

कहानी यों है कि एक ग्वाला था जो रोज एक पासी के पास ताड़ी उतारते समय ताड़ के नजदीक जाता था और बड़ी नम्रता से राम-सलाम कर ताड़ी पी आता था। एक दिन पासी ने सोचा कि मैं भी क्यों न ग्वाले से थोड़ा दूध वसूल करूँ ? वह जब ग्वाले के पास पहुँचा, तो वह अपनी भैंस दुह रहा था। उसने भैंस को भड़काते हुए कहा कि उँह, बड़े बेवकूफ मालूम पड़ते हो जी, तेरे आने से तो मेरी भैंस ही भड़क उठी। पासी ताड़ गया। उसने चट

ऊपर वाली लोकोक्ति पढ़ी, जिसका अर्थ होता है कि क्या खूब ! ताड़ के पास तो मुझे राम-सलाम करते थे, पर यहाँ भैंस के पास मैं बेवकूफ बन गया।

एक दूसरी कहावत लें। एक चतुर व्यक्ति ने अपने काने लड़के का विवाह किसी तरह ठीक-ठाक कर सम्पन्न कर लिया। जब उसका पुत्र कोहबर में गया तो उसने झट कहावत कसी—

धन्न भाग मोर लहबर भेल।
कान पुतर मोर कोहबर गेल।

मेरा भाग्य धन्य हुआ कि मेरा काना पुत्र कोहबर में गया।

लड़की वाले ने झट उत्तर दिया—

तोहरो से समधी हमहुँ सुजान।
पुतहु के टेंटन देखिहऽ बिहान ।।

हे सम्बन्धी जी, मैं आपसे भी अधिक बुद्धिमान हूँ। अपनी पतोहू की फूटी हुई आँख की टेढ़ कल देखना।

जैसे के तैसे का कैसा निदर्शन है !

एक किसान अपनी फसल काट रहा था। उसके साथ उसका छोटा सा लड़का भी हँसुआ चला रहा था। लड़के ने बड़े ढंग से कहा—'बाबू हो ओ !' बाप समझ गया कि हो न हो इसने अपना हँसुआ खो दिया है, तब न ढंग बना रहा है ! उसने कहा—'बुझलूं, तू हँसुअवा भुलौलँ।' मैं समझ गया तूने हँसुआ खो दिया।

एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के यहाँ शादी के अवसर पर गया। पुरोहित जी से मण्डप बनाने के लिये ज्योंही अइपन (चावल का गीला चूर्ण) माँगा त्योंही एक ढकनी (मिट्टी का छोटा सा पात्र) में थोड़ा-सा अइपन आया। आगन्तुक जान गया कि इसके यहाँ या तो चावल की कमी है या यह कंजूस है। इसीलिए उसने कहावत पढ़ी।

घर के भेद तबहिं हम पावा।
चउक पुरन के ढांकन आवा ।।

घर का भेद मैं उसी समय जान गया, जब कि चौक पुरने के लिये ढकनी आई।

नीति मूलक कहावतों का भण्डार सभी भाषाओं और बोलियों में पाया जाता है। मगही भाषा में भी इसकी कमी नहीं है। कुछ लोकोक्तियाँ तो इतनी वीभत्स और अश्लील हैं कि उनका उच्चारण भी गर्हित जैसा लगता है, पर उनमें एक गजब का सन्देश सन्निहित है। मैं यहाँ उन्हें बिलकुल नहीं दूँगा, यद्यपि उनका निजी मूल्य है।

नीवर मिरसिकार तो गरवइया मारे मटकी !

जब निर्बल शिकारी रहता है तो गरवइया (एक पक्षी विशेष) भी उस पर मटकी मारता है, अर्थात् निर्बल होना पाप है ।

मारल चोर उपासल पहुना ।
फेन न आबे हम्मर अंगना ॥

मार खाया हुआ चोर और उपवास कराया हुआ अतिथि फिर लौटकर नहीं आता ।

आगे से भागे ।

जो काम में तत्परता दिखाता है वह सफल हो जाता है ।

फूटल सहल जाहे, आंजन न सहल जाय ।

लोग आँख फूटना पसन्द करते हैं, पर अंजन लगाना पसन्द नहीं करते ।

बाघ चीन्हे बराहमन के बच्चा !

बाघ ब्राह्मण के बच्चे को क्यों पहचानने चला ?

बोलायों न चलायों चिकर चिकर गाओं

कोई न तो बुलाता है और न चलाता है पर कितने लोग अपने से अपना राग अलापते हैं।

लरिका के पते न, छठिहारी के डोरा बाँट रखली ।

लड़के का पता ही नहीं और छठी के लिये सूता बाँट लिया । यह काल्पनिक लोगों का स्वभाव चित्रण है ।

चोर चोर मउसेरे भाई

अब व्यङ्ग्यात्मक कहावतों की ओर चलें । मगही में व्यङ्ग्यात्मक कहावतों की भरमार है । कभी-कभी तो अन्य कहावतों में भी एक मीठा सा व्यंग्य छिपा रहता है ।

मिरा के मोंछ न नफ्फर के पट्टा ।

मालिक को मोंछ भी नहीं और नौकर को जुल्फ ! क्या गजब !

कौव्वा से कौव्वलबे चत्तुर

कौवे से तो उसका बच्चा ही चतुर निकला !

आइ माइ के टिक्का न बिलाई के भरमंगा !

और लोगों को सिन्दूर का एक बुन्दा भी नहीं और बिल्ली रानी को भर माँग सिन्दूर !

मियाँ जी के दाढ़ी वाह वाह में गेल !

मियाँ जी की दाढ़ी वाह वाह में चली गई !

बन्दर के घाव पोरसिसिए गेल !

बानर के घाव को उसके हित-कुटुम्ब लोग देखने में ही ले मरते हैं ।

सिश्रार के गुह परबत !

सियार की विष्ठा पर्वत सी प्रतीत होने लगी !

आनो के आन चिन्ता, लाडो के भतारे के चिन्ता !

अन्य लोगों को अन्य लोगों की चिन्ता है पर उस प्रेमगर्विता को अपने प्रियतम (?) की ही चिन्ता रात दिन बनी है !

खोस भेलन भतनो, भतार कहलन दाई ।

भतनी (एक कल्पित नायिका) इसीलिए फूली फूली घूम रही है कि उसके भतार (पति) ने उसे दाई, कह कर पुकारा !

सौंसे काको जरगेल बीबी कमाल के खबरेन !

सारा काको (एक बस्ती विशेष) जल गया और बीबी कमाल को कुछ पता भी न था जो उसी बस्ती में थी !

जे पांडे के पतरा में से पंडिश्राइन के अँचरा में ।

जो पांडे जी की पोथियों के पन्ने में है, वह उनकी पंडिआइन के आँचल में लिखा है ।

अब खेती की कहावतों की ओर चलें । भारत कृषिप्रधान देश है । अतः सम्पूर्ण उत्तर भारत में घाघ और भड्डुरी की कृषि सम्बन्धी कहावतें प्रचलित हैं । मगध भी इससे वंचित नहीं है । फिर भी यहाँ कुछ ऐसी मौलिक कहावतें दी जाती हैं, जो मगध में सर्वत्र प्रचलित हैं—

सौ चास एक संजोग ।

सौ बार हल चलाना और एक बार सुयोग मिलना बराबर है ।

बो बे कियारी—उपजे लिलारी ।

आदमी क्यारी में बोता है पर उपजता अपने भाग्य से ही है ।

हरिअर खेती गाभिन गाय,
बड़ा भाग होय तब मुँह में जाय ।

हरी खेती और गर्भवती गाय बड़े भाग्य से काम में आती हैं ।

रब्बी रब के हाँथे ।

रब्बी की फसल ईश्वराधीन है । उसका कोई ठिकाना नहीं ।

माघ के चौस चास, असाढ़ के सोना ।

माघ में विराड़ (ःधान के बीज का खेत) को ज्यों त्यों जोत देने से आषाढ़ में बहुत लाभप्रद सिद्ध होता है !

बसि-गोत जोति साते।

रहना सामूहिक ढंग से गोत्रवालों के साथ चाहिए और साते खेती (जिसमें जल आसानी से मिल सके) जोतनी चाहिए।

बालू सड़े तो मोती झरे।

बालू में सड़ान पैदा हो,तो उस बलुआही ज़मीन की फसल का क्या कहना ! उसमें मोती झरता है।

खेती कर तो आप बह न तो बइठा रह।

खेती करनी है तो अपने से काम करना उचित है और नहीं तो खेत पर बैठा रहना भी चाहिए।

बंटइया लुटइया।

बटाई खेती में कोई फायदा नहीं होता।

खेती की कहावतों में वर्षा, बैल, खेत के औजार और घर सम्बन्धी कहावतें भी आती हैं।

वर्षा के लिये नीचे की कहावत सुप्रसिद्ध है :—

करिअहबा हउ डेरौनी,
उजरा हउ बरसउनी।

काले बादल बरसते नहीं, उजले ही बादल केवल बरसते हैं।

इसी तरह 'गरजे से बरसे न' की भी बात पाई जाती है।

बैल के सम्बन्ध में यह प्रसिद्धि है—

देख बइल गोल, दीहअ थैली खोल।

गोल बैल को देखकर तुरत थैली खोल देनी चाहिए।

खेत के औजार में हल प्रधान स्थान रखता है। अतः उसके लिये बबूल का हल, मुसहर जोतवाहा तथा भईंसा बड़ा महत्वपूर्ण माना जाता है। कारण, मगध में अधिकांश धान ही होता है। अतः कादो में ही जुताई करनी पड़ती है। सावन-भादों में मस्त मुसहर जोतवाहा बबूल के मजबूत हल से खेत की जुताई को बात बात में ठिकाने लगा देता है। कादो में भईंसा (भैंसा) खूब ठटता है। एक कहावत में हर, घर और वर के लिये किस ढंग की प्रार्थना की गई है, वह देखने योग्य है।

बबूर के हर, अईंटा के घर, राम नीयर वर !

घर में ईंट के घर को प्रधानता दी गई है।

स्फुट कहावतों में अनेक प्रकार की कहावतें आ सकती हैं। इनमें चुहलबाजियाँ, प्रश्नोत्तर तथा खेल आदि की कहावतें पाई जाती हैं।

गाजर के सम्बन्ध में यह कहावत प्रचलित है—

जे खाय गजड़ा, ओकरा सास मारे बजड़ा।

जो गाजर खाता है, उसे उसकी सास पछाड़ मारती है।

कभी-कभी चैत्र मास में गया हुआ जाड़ा लौट आता है। इसके लिये यह कहावत मशहूर है—'एही चइत में बाबाजी बाछी बेंच के नेहाली बनौलन हल', अर्थात् इसी चैत्र के महीने में एक ब्राह्मण ने अपनी रजाई बाछी (गाय का बच्चा) बेंचकर बनाई थी।

प्रश्नोत्तरवाली कहावतें पहेलियों का रूप भी कभी कभी धारण कर लेती हैं। एक पांडे और पनिहारिन का प्रश्नोत्तर यहाँ दिया जाता है। एक पांडे जी से एक पनिहारिन ने कुएँ पर प्रश्न किया :—

बाप के नाम से पूत के नाम नाती के नाम कुछ अउरे।
ओकर नाम बतादअ पांडे तब उठइहअ कउरे॥

पांडे जी ने उसके उत्तर में कहा—

जाके तरवर ऊपर जाए नीचे राखल अंडा।
एकर जवाब तूं दीहअँ पनिहारिन तब उठइहँ भंडा॥

पांडे और पनिहारिन का संवाद बढ़ने को ही था कि एक दूसरी बूढ़ी पनिहारिन ने आकर फैसला यों किया—

जेकर पीए मयगर मारे आउर लगे घानी।
तू बबा जी कोर उठावअ इ लेजाय अपन पानी॥

पनिहारिन ने पांडे से महुआ के सम्बन्ध में पूछा था और पांडे ने उसका उत्तर भी उसी प्रकार दे दिया था। बाद में फैसला उसी प्रकार दिया गया।

खेलों में कबड्डी, पचीसी आदि के सम्बन्ध में कहावतें मशहूर हैं। कबड्डी के खेल में 'जे सेबे उड्ढा, सेकर बाप बुड्ढा', अर्थात् जो उट्ठे (गोल) पर रहे, उसका बाप बूढ़ा प्रमाणित होगा, वाली कहावत प्रसिद्ध है। पचीसी में भी अनेक कहावतें चलती हैं, जैसे—'छौके पौन', अर्थात् छः आने के बाद दस या पचीस का आना मुश्किल हो जाता है।

स्वास्थ्य सम्बन्धी कहावतें भी स्फुट में आ सकती हैं। एक कहावत यह है—

चइते गुड़ बइसाखे तेल।
जेठे पंथ असाढ़े बेल॥

सामन साग न भादो दही।
कुआरे करइला कातिक मही॥

अर्थात् चैत्र में गुड़, वैशाख में तेल, ज्येष्ठ में राह चलना, श्रावण में साग, भादों में दही, आश्विन करैला और कार्तिक में मठा हानिकर है।

लेख लम्बा हो चला है। अब फिर कभी मगही लोकसाहित्य के किसी अंग पर प्रकाश डालने का भरसक प्रयत्न करूँगा।

बिसराम के बिरहे

परमेश्वरी लाल गुप्त

मुखराम सिंह

आजमगढ़ की बात है। १९४२ में, बरसात के दिन थे। एक दिन, फुहार पड़ चुकी थी, मौसम सुहावना हो रहा था, हम दोनों घूमने निकले। शहर से दक्षिण रामायण की सुप्रसिद्ध नदी तमसा बहती है, जिसे वहाँ के लोग टोंस कहते हैं। उधर ही हम दोनों चल पड़े। कुछ दूर जाकर सड़क से उतर कर हम लोग नदी के किनारे किनारे चलने लगे।

धीरे धीरे हम दोनों बातें करते चले जा रहे थे। अचानक दूर से आती हुई बिरहे की आवाज ने हमें आकृष्ट किया। हम ठिठक गए। बिरहा था—

आयल बाटे सावन कय महिनवाँ मोरे भइया,
रहि रहि उठे बदरवा घनघोर।
उड़ेला पपीहा आपन गितिया सुनावत,
चलैले बयार जियरा के लहरावत,
जोन्हरी कै पात हिल्ले, मडुआ के चोटी,
रहि रहि लहरालीं उखिया जग्र मोटी मोटी,
उड़ैलैं बकुलवा जइसे बेइला के गजरा,
बदरा कय टुकड़ा नभवा में करे झगरा,
पड़ल बाटे झुलवा, ओप्पर झुल्लत बाटीं नागे,
रहि रहि हिल्ले वाही पेड़वा के डारी,
चारों ओर से कजरी सुनाले मोरे भइया,
जेहि सुन फाटेला करेज मोरे दइया,
कहे बिसराम दुनिया करत बाय अराम,
नाचत बाटे बनवा में मोर।
राम मोरी रानी भइलीं स्वाती कय पानी,
मोर करकेला करेजवा कय कोर।

सावन का महीना आया हुआ है, रह-रहकर घनघोर बादल उठ रहे हैं। पपीहा अपना गीत सुनाता उड़ता है, मन को उत्फुल्ल करती हुई वायु चल रही है जिससे मक्के के पत्ते और महुआ की चोटी हिल उठती है और रह-रहकर मोटे मोटे ईख खड़खड़ा उठते हैं। आकाश में बकुलों की पंक्ति इस प्रकार उड़ रही है मानो बेले का गजरा हो। नभ में बादलों की टुकड़ियाँ लड़ रही हैं। बाग में झूला पड़ा हुआ है, उनपर स्त्रियाँ झूल रही हैं। उसके कारण रह-रहकर पेड़ की डालियाँ हिल उठती हैं। चारों ओर कजली सुनाई पड़ रही है, जिसे सुनकर मेरा हृदय विदीर्ण हुआ जा रहा है। सारा संसार आनन्द कर रहा है। वन में मोर नाच रहे हैं। किन्तु मेरे कलेजे में हूक उठ रही है। मेरी रानी स्वाती की बूंद हो गई।

अन्तिम पंक्ति सुनकर अन्तर हिल उठा। अपने ही घर की बोली में इतने सरल ढंग से इतनी ऊँची अभिव्यक्ति, अछूती उपमाएँ; हम कल्पना भी न कर सके थे। गायक के बारे में हम जानने को आकुल हो उठे। मालूम हुआ गायक ही कवि है और उसके कंठ से उसके अन्तर की व्यथा फूट पड़ी है। पत्नी के मरने के कारण वह पागल हो उठा है और बहुधा श्मशान के किनारेवाले पीपल के नीचे आ बैठता है और अपने बिरहों में अपने दुख को भुलाए रहने का प्रयत्न करता रहता है।

बिसराम पास के ही गाँव सियरामपुर का निवासी था। उसका अच्छे खाते-पीते भूमिहार परिवार में जन्म हुआ था। माँ-बाप ने उसे स्कूल पढ़ने भेजा, पर शायद चौथे दरजे तक ही पढ़ सका। स्कूल की अपेक्षा उसे प्रकृति की शाला में अध्ययन करना अधिक रुचा। वह अपनी गाय-भैंसें चराता और मौज किया करता। अपने इस चरवाहे जीवन में ही उसने कुछ बिरहे बनाए भी थे, पर जब उसकी पत्नी मरी तो उसकी वेदना की अनुभूति उसके बिरहों में फूट पड़ी, और उसकी तीव्रता अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई।

हम लोगों ने उसके बिरहे से प्रभावित होकर उसकी रचनाओं को संकलित करने का प्रयत्न किया; किन्तु हमारे इस प्रयत्न से उसके स्वान्तः सुखाय में बाधा पड़ी और वह अनेक बार क्षुब्ध भी हुआ और हमें अधिक सफलता न मिली। फलतः हमने उन लोगों के माध्यम से संकलन करने का प्रयत्न किया, जिन्होंने उसे गाते सुनकर उन्हें कंठस्थ कर लिया था। इस प्रकार कुल २१ बिरहे संकलित हो सके।

बिसराम ने इन बिरहों में अपनी पत्नी को खोकर सारे संसार को वियोगी की आँखों देखा है, और उसे अपने समान ही सभी वियोगी जान पड़े। यहाँ तक कि प्रकृति भी उसकी दृष्टि में वियोगिनी थी। अपनी इस भावुकता के कारण बिसराम को पग-पग पर उपहास सहना पड़ा था। अतः आकाश में उठती हुई एक बादल की टुकड़ी को देखकर उसका व्यथित कंठ फूट पड़ा—

रोवत धोवत नभ में आइलि एक बदरिया,
ऊ तऽअ घूमि आइल सगरो जहान।

केहू नाहीं बात पूछल, सबै गरियावल,
बिहँसि बिहँसि ओकर खिल्लो उड़ावल,
तड़पि तड़पि के बदरा तब्र देला गारी,
गुंडा पवनवा देला लुगवा उघारी,

बकुला कै लड़िका ओके खोदि कै बिरावत,
देखि के ओकर दुख बनमुरुगिया बाटीं गावत,

उचकि उचकि पेड़ ओसे अँखिया लड़ावे,
खुसी होइके बाँस करिहंइया हिलावे ,

कहै "बिसराम" कइसे दुनिया रहिहै राम,
जग में अइसन मचल बाय उतपाति,

दइउ केनी चीजु कै जब ई हाल बाय मोरे भइया,
तब हम का कहीं अदमिन कय बात ।

आकाश से एक बदरिया (मेघ का नारी रूप में कल्पना) रोती धोती आई । सारे संसार में वह घूम आई पर किसी ने उससे बात तक न पूछी । सभी ने उसे गालियाँ दीं और हँस हँस कर उसकी खिल्ली उड़ाई । बादल (मेघ का पुरुष रूप में कल्पना) गरज गरज कर उसे गाली दे रहा है । गुंडा पवन रह रह कर उसे नंगा किये देता है । बकुला के बच्चे खोद खोदकर उसे चिढ़ाते हैं । उसे दुखी देखकर बनमुर्गियाँ प्रसन्न हो रही हैं । वृक्ष उचक उचक कर उससे आँख लड़ाने का प्रयत्न कर रहे हैं और बाँस प्रफुल्लित होकर अपना कमर हिला रहा है । हे भगवान, संसार में जब ऐसा अंधेर मचा हुआ है तब भला बताइये, दुखी जन कैसे जीवित रह सकेंगे ! जब प्रकृति की वस्तुओं की यह अवस्था है तब मनुष्य की बात ही क्या ?

इन अन्तिम पंक्तियों में उसकी वेदना कितने तीव्र रूप से छिपी हुई है, बताने की आवश्यकता नहीं । वस्तुतः गाँववालों ने उसके दुःख का उपहास करने में कुछ उठा नहीं रखा था । उसने अपनी अवस्था और अड़ोस पड़ोस के व्यवहार तथा घर के लोगों के विचार को वर्णनात्मक ढंग से कुछ बिरहों में व्यक्त किया था; किन्तु वे सभी बिरहे उपलब्ध न हो सके । अनेक प्रयत्न करने पर भी उसने अपनी भावनाओं को अपने कंठ के नीचे ही सीमित रखना उचित समझा । अतः उसके कुछ बिखरे अंश ही प्राप्त हो सके; किन्तु वे प्रकृति के चित्रण और मार्मिकता में अद्भुत हैं ।

मोके तब्र बिपतिया सतावे मोरे दैवा,
गँउआँ कहे कि मेहरबस हउए सार ।

बुढ़वा तश्र कहे हमरी मरल बाय मेहरिया,
कबहूँ नाहीं तोरलीं आपन अइसे सरिरिया,
कहै लँय जवनका मेहरी मरे बहुत जग में,
उनकर मरदवा नाहीं रोवे अइसे मग में,

× × ×

एनहीं कय सीता जनूँ मरल बाटी जग में,
ई तश्र रोवे नित जरिया बेजार।
एक ठे मेहरिया के मरत ई बेहंगवा,
गयल अपनी हिमतिया अइसे हार।

× × ×

पिता जी कहैं बेटा करबै बिअहवा दूसर,
काहे होला ओम्मे लवलीन।
एतनी तश्र बतिया नाहीं जनता मोरे दादा,
उनकै सुरतिया मनवा में हौ आसीन।

× × ×

तूहैं हउवै काम तिलकी में लेबै दाम,
हमरी दुसरी नियतिया हई तात।
जनम गवइबै उनकै नउँआ हम रटि रटि,
दादा ना हो करबै दूसरी कै बात।

× × ×

भाभी कहै--बाबू, हवा गुलाब कै तूँ फुलवा,
ऊ तश्र रहै ढकवा कै हो पात।
तनी मुँह खोला, तुहरा भइया लिअइहैं बाबू,
ओसे अच्छा हो सौगात।
ढकवा के पतवाँ हमरा मनवा लोभइलैं,
का हम करबै बेइली कै लेके फूल।
पतवा कै छुँहवाँ जो यदि होते हमरी भाभी,
नाहीं उठतैं जियरा में अइसे सूल।

× × ×

कहै बिसराम लखि कै हमरा ई काम,
गँउवा कहैं कि करत बाय उतपात।

हमरा तत्र दिलवा सुलगै अगिया की नाईं,

लोगन का हो जनवा हमरे दिल कय बात।

हे देव, मुझे तो विपत्ति सता रही है और गाँववाले कहते हैं कि साला, पत्नी के वशीभूत हुआ है। बुड्ढे लोग कहते हैं कि हमारी भी स्त्रियाँ मरी हैं, पर हमने कभी अपने शरीर को इस प्रकार नष्ट नहीं किया। युवक कहते हैं कि संसार में तो स्त्रियाँ मरा ही करती हैं, पर उनके पति इस तरह रास्ते रास्ते रोते नहीं फिरते।

× × ×

संसार में जान पड़ता है कि इन्हीं की अकेली एक सीता मरी है जो ज़ार बेज़ार होकर रो रहा है। एक पत्नी के मरते ही यह कायर अपनी हिम्मत हार गया।

× × ×

पिता जी कहते हैं कि व्यर्थ में तुम उसमें लवलीन हो रहे हो। मैं तुम्हारा दूसरा विवाह कर दूँगा। पर वे यह नहीं जानते कि उसकी सूरत मेरे हृदय में बसी हुई है।

× × ×

पिता जी, आपको तो तिलक में रुपये लेने से मतलब है, पर मेरी इच्छा कुछ और ही है। उसका नाम रट रट कर जीवन बिता दूँगा पर दूसरी स्त्री की बात न करूँगा।

× × ×

भाभी का कहना है कि तुम गुलाब के फूल हो और वह तो ढाक का पत्ता भी। मुँह भर खोलने की देर है, तुम्हारे भाई उससे कहीं अच्छी सौगात ला देंगे।

× × ×

मेरा मन ढाक के पत्ते पर ही लुभाया था, मैं बेले का फूल लेकर क्या करूँगा। यदि पत्ते की छाँह ही होती तो हृदय में इस प्रकार हूक ही न उठती।

× × ×

लोगों ने उसकी वेदना का अनुभव न कर उसका इतना अधिक उपहास किया कि उसे जान पड़ने लगा कि पृथ्वी के मनुष्य ही नहीं, आकाश के तारे भी उसके दुःख पर मुस्करा रहे हैं। और वह कह उठा :—

काहे को मोके दुखी देख हंसा मोरी तरई,

एक दिन तूँ हूँ रोइबू घन में मुँह छिपाय।

रोइबू मोरी तरई, आँसू सीत कय गिरइबू,

आपन दुखवा तत्र सारे जग के सुनइबू,

देंहि चमकाय जुगनूँ तोंहके बिरइहैं,

जोर जोर से झींगुर तरई, तूंहें गरिअइहैं,
कहिहैं सियार हुआ तोहरो हननवा,
उल्लू कचकचाइ तुहरा लुटिहैं खजनवा,
रेउवाँ तुहके देखिके हँसिहैं तलिया बजाई,
छिपल छिपल चाँन दिहैं मुसुकाई,
कहै बिसराम तरई मन में जपा राम,
सब दिन नाहीं हँसबू अइसे खिलखिलाय,
कल्हियाँ जे रहलैं छोड़त हँसी कै फुहरवा,
ऊ तअ आजु रोवै गलवा फुलाय।

मुझे दुःखी देखकर क्यों हँस रही हो तारिका रानी! एक दिन तुम भी घन में मुँह छिपाकर रोओगी, ओस के आँसू गिराओगी और सारे संसार को अपना दुखड़ा सुनाती फिरोगी। उस समय जुगनू अपना शरीर चमकाकर (इस शब्द में श्लेष है—मटकाकर) तुम्हारा उपहास करेंगे और झींगुर जोर जोर से तुम्हें चिढ़ावेंगे। सियार कहेंगे आखिर तुम्हारा भी नाश हुआ न? उस समय उल्लू कचकचा कर तुम्हारा खजाना लूट लेंगे और रेउँआ ताली बजा बजाकर हँसेंगे। और तब चाँद भी छिपे छिपे मुस्करायेगा। तुम सर्वदा इस प्रकार खिलखिला कर हँसती न रहोगी। जो कल तक हँसी का फौवारा छोड़ते थे, आज गाल फुला कर रो रहे हैं। इसलिए राम का नाम स्मरण करो।

बिसराम ने अपने अन्तर्तम की वेदना और कसक को अपने बिरहों में बार बार दुहराया है और प्रत्येक बार नए नए ढंग से। पत्नी के शव को लेजाते समय उसकी जो मनस्थिति हुई उसका वर्णन उसने इस प्रकार किया है—

आजु मोरी घरनी निकरलीं मोरे घर से,
मोरा फाटि गइलैं आल्हर करेज,
राम नाम सत हौ सुनि मैं गइलों बउराई,
कवन रछसवा गइलैं रानी के हो खाई,
सुखि गइलैं आँसु नाहीं खुलैले जबनिया,
कइसे कै निकारों मैं तो दुखिया बचनिया,
आजु उनसे नाता टूटि गइलैं मोरे भइया,
आजु मोरी छुटि गइलीं उनसे सगइया,
मोरी अहियन से उनकी चिता धुंधुअइलीं,
चितवा में सोवल रानी, राखी होइ गइलीं,

कहै 'बिसराम' नाहीं धनी रहलीं राम,
रहलैं चारि जना कै परिवार,
वोही में से घात एक ठे कइलै पापी दैवा,
नाहीं कइलैं मोरे गरीबी पर बिचार।

मेरी पत्नी आज घर से निकल गई। उसे घर से जाते देख मेरा कोमल हृदय विदीर्ण हो उठा। 'राम नाम सत्य है' सुन कर तो मैं पागल हो उठा। पता नहीं, किस राक्षस ने मेरी रानी को खा लिया। मेरी आँखों के आँसू सूख गए हैं, जबान बन्द हो गई है, अपनी वेदना किस प्रकार व्यक्त करूँ। भाई मेरे, आज उनसे मेरा नाता टूट गया, उनके साथ जो अपनापा था, वह आज छूट गया। मेरे आहों से उनकी चिता धू-धू कर उठी और चिता में सोई रानी राख हो गई।

मैं ऐसा कोई धनी भी नहीं था। केवल चार व्यक्तियों का परिवार था। फिर भी पापी दैव ने मेरी इस निर्धनता पर विचार नहीं किया और उसी में से एक को छीन लिया।

कवि के मन में अपनी रानी की याद बराबर बनी रहती है और उसे दूर पर चिता जलती देख अपने उस दिन की याद आ जाती है जब उसने इसी प्रकार अपने अरमान जला दिए थे।

नदिया किनारे एक ठे चिता धुँधुँआले,
लुतिया उड़ि उड़ि गगनवा में जाय।

धधकि धधकि के चिता लकड़ी जलावे,
लहकि लहकि के नदी के सनवा दिखावे,
आइके बतास अँचियन के लहरावे,
नदिया कै पानी आपन देहियाँ हिलावे,
चटकि चटकि के चिता में जरति बाय सरिरिया,
ना जानी कि पुरुष जरे या जरे मेहरिया,
चितवा तर बइठल एकठे मनई दुखारी,
अपने अरमनवन के डालत बाटे जारी,
कहै "बिसराम" लखि के चितवन कै काम,
मोरा मनवा हो जाला ई बेकाम।
अइसनै चिता हो एक दिन हमहूँ जरवलीं,
ओही सँग फूँकि देहली आपन अरमान।

नदी के किनारे एक चिता धू धू करके जल रही है और उसकी चिनगारी उड़-उड़कर आकाश में जा रही है। धधक धधक कर लकड़ी चिता को जला रही है और लपटें बढ़-बढ़कर नदी को अपना शान दिखा रही हैं। वायु चलकर आँच को लहरा देती है और नदी का पानी अपना शरीर हिला रहा है। चिता में चटक-चटक कर शरीर जल रहा है। पता नहीं उसमें नर जल रहा है अथवा नारी। हाँ, उसके किनारे बैठा एक व्यक्ति अपने अरमानों की आहुति दे रहा है। चिता का यह कार्य देखकर मेरा हृदय बैठा जा रहा है। एक दिन मैंने भी ऐसी ही चिता प्रज्वलित की थी और उसी में फूँक दिए थे अपने सारे अरमान।

इसकी कसक रह-रहकर उसे अपने एकाकी जीवन में उठा करती है। कहता है—

राति अँधियरिया, बाटी सूनि मोरि सेजरिया,
मोरे दिलवा में उठेला तूफान।
बोलैलँअ सियार कुचकुचवा बहरवाँ,
रेउवाँ चिल्लात बाटैं ताल के किनरवाँ,
उड़ि उड़ि भगजोगनी पिपरन पर मँड़रालीं,
नभवा से टूटि के तरई राति में बिलालीं,
चलि चलि पुरुआ पेड़वन के झकझोरे,
मेघवन कै बोली मोके चिन्ता में बोरे,
उमड़ि घुमड़ि के बदरा पानी बरसावै,
तड़पि तड़पि के मोरा जिया तड़पावै,
आइ आइ बउछार मोरी खटिया भिगोवै,
टूटल ओसार मोरा टुप टुप चूवै,
यहि बिच यदिया उनकै अइलीं अचानक,
मोरा मनवाँ मसोस रहि जाय,
कहै "बिसराम" का बिगरलीं तोहरा राम,
मोरी बसलि मड़इया देहला जराय।

रात अँधेरी है, पर मेरी खाट सूनी है। मेरे हृदय में तूफान उठ रहा है। बाहर सियार और उल्लू बोल रहे हैं, तालाब के किनारे झींगुर झंकार रहा है, पीपल के पेड़ पर उड़ उड़कर जुगनू मड़रा रहे हैं, आकाश में तारे टूट टूटकर विलीन हो रहे हैं। पुरुआ हवा चलकर पेड़ों को झकझोर रही है। मेढ़कों की बोली सुनकर मन चिन्तित हो उठता है। बादल उमड़-घुमड़ कर पानी बरसा रहे हैं साथ ही स्वयं तड़प तड़प कर मेरे मन को भी तड़पा रहे हैं। बौछार आ आकर मेरे खाट को भिगोये देता है। मेरा टूटा हुआ ओसारा बरामदा टप टप चू रहा है। ऐसी अवस्था में अचानक उनकी याद आ गई, मेरा मन मसोस कर रह जाता है। हे भगवान, मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था कि तुमने मेरे इस आबाद झोपड़े को उजाड़ दिया।

अँधेरी रात की तरह उँजेली रात भी उसे 'उनकी' याद भूलने नहीं देती।

छउले बाय धपधप अँजोरिया सारे जग में,
रहि रहि यहर वहर उड़ै लुक्क।
उड़ैला तत्र लुक, उड़ै राहि भूलल पंखी,
हम तत्र सूतल अपने खटिआ पै झंखी,
झनन झनन झींगुर बतिया उचारै,
हूलसि हुलसि उल्लू घरनी पुकारै,
दूर पर ताड़ एक ठे देत बा देखाई,
केहू केनी याद में जनू लेला जम्हुआई,
घड़र घड़र करत अइलीं तब रेलिया,
छन भर भुललीं अपने दुख कै पहेलिया,
एतने में बोलल एक ठे कउअवा दुखारी,
बइठल रहल बँसवा के पुनुई के आरी,
तोरे जोड़वा के कउनो मरलै चिबिल्ला कउआ,
मोरे जोड़वा के मरलैं राम।
उनकै त मनवा छन भरवाँ बहललैं कउआ,
हमनी कै तड़पै नित प्रान।

सारे जग में धवल चाँदनी छाई हुई है। रह-रहकर इधर-उधर लुक्क (उल्का) उड़ रहे हैं, और उड़ रहे हैं मार्ग भूले हुए पक्षी; किन्तु मैं अपनी खाट पर लेटा हुआ झख मार रहा हूँ। झनक झनक कर झींगुर बात कर रहे हैं और उल्लसित होकर उल्लू अपनी पत्नी को बुला रहा है। दूर पर एक ताड़ खड़ा दिखाई दे रहा है, मानो किसी की याद में उसास ले रहा हो। इतने में घड़घड़ाती हुई रेल आई। क्षण भर के लिये मैं अपने दुख की पहेली भूल भी न पाया था कि एक दुखी कौआ बोल उठा जो बाँस के छोर के किनारे बैठा हुआ था।

हे कौआ, तुम्हारे जोड़े को किसी शरारती लड़के ने मार डाला और मेरे जोड़े को राम ने। उनका मन क्षण भर के लिये प्रफुल्लित हुआ, पर हम लोगों का प्राण दिनरात तड़पता रहता है।

होली हो, दिवाली हो, वसन्त हो, पावस हो, सब उसको 'स्वाती की बूँद' बनी 'रानी' का ही स्मरण कराते रहते हैं। दीवाली आई और बिसराम की कसक उभर पड़ी—

आइल बाय दिवाली, जग में फइललि उजियाली,
मोरे मनवा में छवले बाय अन्हार।

जुगुर जुगुर दिया बरै, होति बाय अन्हरिया,
मैं तो बइठल बाटों अपनी सूनी रे कोठरिया,
अँचरा के तरे लेइके फूल कै थरियवा,
गउँवा कै नारी बारे चलति बार्टी दियवा,
मोरे हिया में उठै उनकै याद कै बयरिया,
सिहरि सिहरि मोर उठै दुखिया सरिरिया,
सबके घरवा में दियवा कै बाती लहराती,
मोरे घर में पीटति बाय अन्हरिया अब्बो छाती,
गाँव कै जवान ले मिठाई आवैं घर में,
देखिके आपन धनिया हरखत बाटे मन में,

कहै "बिसराम" हमके दाना हौ हराम,
देखि मिठवा कुढ़त हौ जी हमार।
सब कर घरनी घर में दियवा सजावैं,
मोरे रानी बिना घर हौ मोर अन्हार।

दीवाली आई है और संसार में उजियाली फैली हुई है, किन्तु मेरे हृदय में तो अन्धकार व्याप्त है। एक ओर रात्रि बढ़ती जा रही है, दूसरी ओर दीपक जगमग जल रहे हैं, किन्तु मैं अपनी सूनी कोठरी में बैठा हुआ हूँ। गाँव की स्त्रियाँ आँचल के नीचे फूल की थाली लिए दीपक जलाने जा रही हैं; पर मेरे हृदय में उनकी स्मृति की बयार चल रही है जिससे मेरा संतप्त शरीर सिहर सिहर उठता है। सबके घरों में दीपक की बत्तियाँ लहरा रही हैं, पर मेरे घर में तो अन्धकार आज भी छाती पीटकर शोक मना रहा है। गाँव के युवक मिठाई लेकर घर आ रहे हैं और अपनी प्रेयसी को देखकर मन ही मन प्रसन्न हो रहे हैं; किन्तु मुझे तो अन्न तक हराम है, मिठाई देखते ही जी जल उठता है। सब लोगों की स्त्रियाँ तो घरों में दीपक सजा रही हैं, किन्तु मेरा घर रानी के अभाव में अँधेरे में पड़ा हुआ है।

कवि की यही वेदना वसन्त आते ही इस प्रकार प्रकट हो उठती है :—

अइलैं बसन्त, महक फइलल बाय दिगन्त,
भइया धीरे धीरे चलैले बयार।
फुलैले गुलाब, फुललों उजरी बेइलिया,
अमवा के डारिन पर बोलेले कोइलिया,
बोलै पपीहा मदमस्त आपन बोलिया,
महकिया लुटावै आम ले बउरै कै झोलिया,

उड़ि उड़ि भँवरवा कलियन पै मँडरालैं
हउश्रा के संगा मिलिके पात लहरालैं,
बढ़ बढ़ के लतवा पेड़वन से लपटालीं,
उड़ि उड़ि के खंजन अपने देसवा के जालीं,

कहै 'बिसराम' कुदरत भइल अभिराम,
चिरई गावत बाटीं नदिया के तीर,

चलि चलि बतास उनकै यदिया जगावै,
मोरे मनवा में उठत बाटीं पीर।

वसन्त आया है, चारों ओर सुगन्ध फैली हुई है। वायु मन्द मन्द चल रही है, गुलाब और श्वेत बेला फूले हुए हैं। आम के डाल पर कोयल कूक रही है। पपीहा मदमस्त होकर बोल रहा है। आम बौर को झोली लेकर मँहक लुटा रहा है, भ्रमर उड़ उड़ कर कलियों पर मंडरा रहे हैं। हवा के संग पत्ते लहरा रहे हैं। लताएं बढ़ बढ़ कर पेड़ों से लिपट रही हैं। खंजन अपने देश को वापस जा रहे हैं और नदी के किनारे बैठ कर पक्षी कलरव कर रहे हैं। इस प्रकार प्रकृति अभिराम हो रही है। किन्तु यह वायु रह रह कर मेरे मन में उनकी स्मृति जगा देती है और हृदय में कसक होने लगती है।

जाड़े के साथ साथ कवि का मन भी ठिठुर जाता है और वह अपने को निर्जीव सा अनुभव करने लगता है।

माघ के महिनवा में पाला पड़ि गइलैं,
हमरा ठिठुरि ठिठुरि जाला हाथ।

ठरि जाला हाथ नाहीं खुलैले हथेलिया,
दुनिया के मरलै आइ जड़वा बहेलिया,
दिसवन में धुँअवन कै फइललि उजराई,
कुहरा से सुरुज नाहीं देत बाय देखाई,
चरर मरर चलै कोल्हू कै कतरिया,
जड़वा के मारे लोग बाँधे लै पगरिया,
काँव काँव कइकै कउआ उड़ि जालैं,
मटरी के खेतवन में छिम्मी खूब खालैं,
चढ़त कराह कै तअ गुड़वा मंहकत बाटै,
अउर चररि चररि करै जाठ,

हथवा के साथे मोर मनवों ठिठुरलैं,
हम होइ गइलीं उकठल काठ ।

माघ के महीने में पाला पड़ा हुआ है। हमारा हाथ ठिठुर ठिठुर जाता है। हाथ इतना ठंडा हो जाता है कि खुलता नहीं। इस प्रकार बहेलिया रूपी जाड़े ने संसार को मार डाला है।

दिशाओं में धुएं के कारण सफेदी छाई हुई है, कुहरे के कारण सूर्य भी दिखाई नहीं देता। कोल्हू की पंक्तियाँ चरर मरर करती हुई चल रही हैं। जाड़े के कारण लोगों ने पगड़ी बाँध रखी है।

काँव काँव करते हुए कौवे उड़ उड़ कर मटर के खेतों में जाकर फली खूब खाते हैं। आग पर चढ़े हुए कड़ाह का गुड़ खूब मँहक रहा है और कोल्हू का जाठ चरर मरर कर रहा है।

किन्तु हाथ के साथ साथ मेरा मन भी ठिठुर गया है और मैं सूखे हुए काष्ठ के समान हो रहा हूँ।

भादों के महीने का वर्णन करते हुए अपने विकल मन की व्यथा उसने अपने इन शब्दों में प्रकट की है—

छउलै बाटीं भादों कै अन्हरिया ये भइया,
दियवा एक टिमटिमाति बाटीं दूर ।

बहरे सियार बोलै बहरे कुकुरवा,
बहरे तअ बोलैला गड़ेरिया उरउरवा,
बिजुलि चमक बहरै मिटी जालीं,
रहि रहि बयार पेड़वन से टकरालीं,
हहरि हहरि नाला पनिया बहावै,
बहरै मलाह कुछु पहरा लगावै,
नदिया में सूँस बुड़ि बुड़ि उतिरालीं,
चुप चुप रहि के मेघा संङे चिल्लालैं ।
कहै 'बिसराम' छन में छावैला सहापा,
नाहीं कतो चलै सचलो पचाल ।
ई तअ कुल चिजुआ नित बदलै हो भइया,
मोरा मनवा त रहे नित बेहाल ।

भादों की अँधियारी छाई हुई है और दूर पर एक दीपक टिमटिमा रहा है। उसी ओर सियार और उल्लू बोल रहे हैं। उसी ओर गड़ेरिया भी अपने भेड़ों को बुला रहा है।

उसी ओर बिजली भी चमक चमककर मिट जाती है। रह रहकर वायु पेड़ों से टकराती है।

हहर हहर कर नाले में पानी बह रहा है और उसमें कुछ मल्लाह पहरा लगाए हुए हैं। नदी में जलहस्ति डूब डूबकर ऊपर आती है और रह रहकर मेढक एक साथ चिल्लाते हैं।

इतनी गति होते हुए भी क्षण में इतना सन्नाटा छा जाता है कि एक जरा सी वस्तु भी हिलती डुलती नहीं जान पड़ती।

यह सब बातें तो नित बदलती रहती हैं किन्तु मेरा मन नित विकल रहता है।

अनन्तकाल से पपीहे और वियोगी कवियों की दृष्टि में एक दूसरे के दुःख के साथी रहे हैं। बिसराम भी पपीहे को अपना-सा ही दुःखी देखकर उसे सान्त्वना देता हुआ अपने हृदय के बोझ को हल्का करने का प्रयत्न करता है। कहता हैः—

पिया पिया मत रटा हे पपिहरा,
पियवा कै घर बाटै दूर।
दूर बाटै घर हो, कइसे भेजबा खबरिया,
नाहीं जब चीन्हल बाटीं पिय कै नगरिया,
सूखि गइलैं तन मन, सूखलि हरियरि सरिरिया,
कइसे कै चलबा एतनी दूर कै डगरिया,
सूखि गइलीं हे जीवन कै आस रे पपिहरा,
नाहीं अंसुओ तब अब पास रे पपिहरा।
कइसे कअ बितइबा अपने जिनगी कै दिनवा,
नाहीं जब हउवै सुख कै निसनवा,
रोअल धोअल अब छोड़ा हो पपीहा,
तनी सुनि मोरेऊ लेबा बात।
बिरहिन कै सुख नाहीं लीखल मोरे भइया,
उनके जरत बितैले दिन रात।

पिया पिया मत रटो पपीहा। पिया का घर दूर है। उसको कैसे सन्देश भेजोगे जब उसका नगर ही जाना पहचाना नहीं है। कैसे इतने दूर का रास्ता चल सकोगे।

पपीहा, जीवन की सारी आशाएँ सूख गई हैं। अब आँसू भी पास नहीं रहा। जब सुख के चिह्न ही शेष नहीं रहे तो किस प्रकार अपने जीवन के दिन व्यतीत करोगे। इसलिए रोना धोना बन्द करो पपीहा। जरा मेरी बात सुनो। बिरही को सुख नहीं लिखा हुआ है। उन्हें दिन रात जलते ही बीतता है।

नदी के किनारे पड़ी हुई खोपड़ी भी पागल बिसराम को अपने समान ही विरही जान पड़ी और उसी से वह बातें करने लगा :—

केतने दिनन से अइसे झंखा हो खोपड़िया,
जइसे झंखे हो बइठ 'बिसराम'।

आवा हम तूँ मिलि के आपन दुख बतियाईं,
आपन दुखवा तअ येही नदिया के जनाईं,
तुँहूँ दुखियारी बाटू काहो मोरी सँखिया,
रोवत रोवत तोहरी गलि तअ गइलीं अँखिया,
केतने दिनन से तुहरी लुटलीं दुनियवाँ,
कहिया से टुटलीं तोरे मन कै मनियवाँ
यहि तरे कब तक रहबू अइसे बउराई,
नाहीं अब दिल कै जलनिया मिटाई,
कहै 'बिसराम' कइसे रहबू हो खोपड़िया,
जब रुपवा कै उठि गइलैं हाट।

बिना अँखिया कै तूँ तअ हऊ मोरी रानी,
जोहबू कइसे बिछुड़लवा कै बाट।

कितने दिनों से मेरी ही तरह इस प्रकार झंख रही हो खोपड़ी। आओ हम तुम मिलकर अपने दुःख की बातें करें और अपना दुःख इस नदी से कहें। तुम भी क्या दुखी हो मेरी सखी। रोते रोते तो तुम्हारी आँखें गल गईं। कहो कितने दिन हुए जब तुम्हारा संसार लुट गया। कब तुम्हारे हृदय की मणि टूट गई। इस प्रकार पागल बनी कब तक रहोगी। अब हृदय की दाह का मिटना सम्भव नहीं है।

जब रूप का बाजार उठ चुका है तो कब तक तुम इस प्रकार रहोगी खोपड़ी। मेरी रानी, तुम तो बिना आँखों की हो, किस प्रकार बिछुड़े हुए की बाट जोहोगी।

विरह-वियोग से इतना सन्तप्त है बिसराम कि वह समझता है कि विरही को अनन्तकाल तक इसी प्रकार दुःख भोगते रहना होता है, अतः मन को आश्वस्त करने का प्रयत्न करता है। कहता है :—

होती हम पंछी उड़ि जातीं वही देसवा,
जहाँ रहे न दुक्ख कै लवलेस।

उड़ि हम जातीं छोड़तीं दुख कै नगरिया,
अउरु छोड़ि देतीं पापी मनइन कै डगरिया,
उँहवा जाइके एक टे मड़ई बनवतीं,
दुखवा कै जिनगी तब खुद से बितवतीं,

हे हो गिद्ध भइया कइसे नभ में मंडराला,
हमरे उड़े कै कउनो रहिया निकाला,
नाहीं कउनों अइसनि बतावा तू उपइया,
जेसे जरि जातीं मोरे दिल कै बलइया,
कहै 'बिसराम' बिरही मूअल लखि के राम,
होतीं मोरे मनवा में कुछ आस।
उड़त उड़त गीध उहां मड़रइहा,
जहां रहै कउनो बिरही कै लास।

यदि मैं पक्षी होता तो उस देश में उड़ जाता जहां दुःख लेशमात्र भी न होता! तब मैं दुःख के इस देश को छोड़ देता, और छोड़ देता पापी मनुष्यों का रास्ता। वहां जाकर एक झोपड़ी बनाता और तब इसी दुःखी जीवन को सुख के साथ बिताता।

हे गिद्ध भाई, तुम किस प्रकार नभ में मंडराते हो? मेरे उड़ने का भी कोई उपाय निकालो! यदि न हो सके तो कोई ऐसा रास्ता निकालो जिससे मेरे दिल की बला जल जाय।

हे राम, किसी विरही को मरा देखकर मेरे मन में भी कुछ आशा का संचार होता है। अतः हे गिद्ध, उड़ते उड़ते वहां जाकर मंडराना, जहां किसी विरही की लाश पड़ी हो।

विचित्र है बिसराम की यह भावना, कदाचित् अद्भुत और अपूर्व। उसे विश्वास नहीं है कि संसार में उसके सिवा और कोई भी विरही है। निदान वह स्मशान के किनारे खड़े पीपल के वृक्ष की शरण में जाता है और अपना समाधान चाहता है।

आयल बाटीं तुहरे सरनिया हमरे पीपर,
हमरे हरि लेबा दुखवा कै जाल।
हरा दुखवा तअ हरा हिय कअ गलनिया,
जेसे नाहीं ढुरे हमरे अँखिया से पनिया,
नाहीं जेसे उठै हमरे दिल में तुफनवा,
काटि काटि खाला हमरे पिता कै भवनवा,
हँसि हँसि पीपर कुछु देबा समुझाई,
जैसे मोरे दिल कै जलनिया मिटि जाई,
केतनी चिता तूँ जरत देखला पिपरवा,
कुछु हमहूँ से देबा बताय।
हमहीं अनाथ भइलीं जग में पिपरवा,
या कि हमारा से अउरु केहू सेवाय।

हे मेरे पीपल, मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ। तुम मेरे दुःखों को हर लो। दुःख को हर लो, हृदय की ग्लानि को हर लो, ताकि आँखों से पानी न ढुले और जिससे मेरे मन में तूफान न उठे। पिता का घर मुझे काट काट खाता है। हँस हँस कर पीपल जरा मुझे समझा तो दो, ताकि मेरे हृदय की जलन मिट जाय। कितनी ही चिताएँ तुमने जलती देखी हैं पीपल। तनिक मुझे यह तो बता दो कि अकेले एक मैं ही अनाथ हुआ हूँ अथवा मेरे सिवा और कोई भी।

वही पीपल उसका साथी था और उसी पर जाकर वह नित्य बैठता और अपनी वेदना व्यक्त करता। अतः वह उससे अनुरोध करता है :—

जुग जुग रहिया येही घाट पर पिपरवा,
एक ठे तूँही बाटा सथिया हमार।
जुग जुग पीपर येही घटवा पर रहिया,
जग कै दुख सुख येही नदिया से कहिया,
नाहीं जग में हौ सुखवा तत्र मोरे भाई,
दिसवा में फइलल रहै हरदम रोआई,
रोवत बाटीं मछरी, रोवै जल कै चिरइया,
दुरवा पै रोवै बछड़ा से छुटल गइया,
उपरा से हँसी, दिलवा में हम रोईं,
रात दिन सोचत आपन जिनगी के खोईं,
कहै 'बिसराम' पीपर करिया इहै काम,
कहिया पथिकन से बतिया तमाम।
मोरी जड़िया पर आइके नित ऊ तत्र रोवै,
एक ठे रहल दुखिया हो बिसराम।

हे पीपल, तुम ही एक तो मेरे साथी हो। युग युग तक इसी स्थान पर रहना और जग के सुख दुख इस नदी से कहना। सुख तो इस संसार में है ही नहीं मेरे भाई। चारों ओर प्रतिक्षण रुदन व्याप्त है। मछली रोती है, जल की पक्षियाँ रोती हैं और दूर पर बछड़े से बिछुड़ी हुई गाय रोती है। ऊपर से मैं हँसता हूँ पर मन में रोता हूं और रात दिन सोच में अपना जीवन खोता हूं। हे पीपल, यह काम अवश्य करना। पथिकों से सारी बातें कहना और कहना कि एक दुखी बिसराम था जो नित्य मेरी जड़ पर आकर रोता था।

अन्तिम अनुरोध उसका नदी तमसा से है :—

धीरे बहा मोरी हे माता टंवसिया,
लेइके मोरी अंखियन कै आँसु।

जइसे मोरी माता फुलवन के बहवावा,
वइसे मोरे दिल के जलनिया मिटावा,
केतने दुखियन के माता पेट में समउलू,
मोके काहे फिर यही जग में बँचउलू,
मोरो चिता एक दिन अपने तट पर रचइहा,
येही तरे धीरे धीरे मनवा में गइहा,
मोरी हड्डियन के माता लीहा तूँ बटोरी,
करौं ई अरजिया तुँहसे हैं हाथ जोरी,
कहै 'बिसराम' बिनती सुना ई ललाम,
माता एके तू निबहिया भरपूर।
मोरी हड्डियन के माता उँहवा लेजइहा,
जहाँ उनकी हड्डियन कै रहै चूर।

हे माता तमसा, मेरी आँखों के आँसू लेकर धीरे धीरे बहो। जिस प्रकार माता फूलों को बहाती हो उसी प्रकार मेरे हृदय की जलन को भी मिटाओ। तुमने माँ, न जाने कितने दुखियों को अपने पेट में समा लिया फिर मुझे ही क्यों बचा रखा है। एक दिन मेरी भी चिता अपने तट पर रचाना और आज की तरह धीरे धीरे गाना। उस समय, हाथ जोड़कर मेरी एक प्रार्थना है कि मेरी हड्डियों को बटोर लेना और इन हड्डियों को वहाँ ले जाना जहाँ 'उनकी' हड्डियों का चूर पड़ा हो। मेरी इस प्रार्थना को तुम अवश्य पूरा करना।

कवि का यह मोह धीरे-धीरे संसार की असारता का अनुभव करने लगा था। फलतः उसे हम यह भी कहते पाते हैं—

डूब गइलैं सुरजू बढ़इता मोरे भइया,
भइलीं पछिम दिसा अब लाल,
लाल भइलीं दिसा, चान धीरे धीरे अइलैं,
उड़ि उड़ि के पंछी अपने देसवा के गइलैं,
धीरे धीरे तरइन कै पाँत बहिरइलीं,
मिटि गइलीं दिन कै अब बचली निसानी,
अइसे मिटि जालैं जग में दुखिन कै कहानी,
मिटि गइलीं साँझ केरी चढ़लि जवनियाँ,
अइसे मिटै गरमी में तलवा के पनिया,
कहै 'बिसराम' जग में मिटैला निसान,

जइसे मिटि जाले दिनवा औ रात ।
यही तरे मिटिहैं सारे जग कै मनइया,
जइसे मिटि जाला पुरइन कै पात ।

सूरज डूब गए और पश्चिम दिशा लाल हो गई । फिर धीरे धीरे चाँद प्रकट हुए और पक्षी उड़ उड़ कर अपने देश को गए । धीरे धीरे तारों की पंक्ति बाहर आई और दिन का बचा हुआ चिह्न भी मिट गया, जिस प्रकार कि संसार से दुखी की कहानी मिट जाती है । सन्ध्या की चढ़ी हुई जवानी मिट गई, जिस तरह कि गरमी में ताल का पानी मिट जाता है । जिस तरह दिन और रात मिट जाते हैं, उसी तरह संसार में सारे चिह्न मिट जाते हैं । जिस तरह कमल का पत्ता नष्ट हो जाता है उसी तरह इस जग के सारे मनुष्य मिट जायेंगे ।

कवि अपने ही दुःख से संवेदनशील हुआ हो, केवल यही बात नहीं है, दूसरों के दुःखों से भी वह दुःखी हो उठता था और उनके दुःखों की कहानी भी उसके कंठ से फूट पड़ती थी । पर उसकी ऐसी रचनाएँ कदाचित् बहुत कम थीं । हमें केवल एक मिल सकी है,

आइ गइलैं जेठ कै महिनवा मोरे भइया,
लुहिया अब तअ चलैलीं झकझोर ।
तपत बाटै सूरज, नाचत बाटै दुपहरिया,
अगिया उड़ावैं चलि चलि पछुँआ बयरिया,
उसरन में बाटै अब बवन्डर घुमरावत,
देखि के दुपहरिया पंछी नाउन बाटीं गावत,
सूखि गइलीं ताल तलई, नदिया सिकुड़लीं,
हरियर उसरउद्दी घास दरियैं मुकुड़लीं,
लेकिन तरबुज्जा अब्बो हरियर देखाला,
जइसे दुखियन में एक ठे सुखी मुसुकाला,
पेड़वन के छाहें चउआ करैलअँ पगुरिया,
गावें चरवाहा फेरि फेरि अपनी मउरिया,
येही दुपहरिया में बिपतिया कै मारी,
बिधवा तअ देले अपनी ऊँखी में कियारी,
कांखी लेइके खांची, लेइके कान्हि पर कुदरिया,
घरवा तब चले अपने दुखिया मेहरिया,
जाइ के घरवां ऊ तअ आंसू खूब बहाई,
भूखल लड़िकवन कै पेट सुहराई,

कहै 'बिसराम' मेहनत ऊ तत्र करे राम,

मँजवा मारैलञँ पइसवन के लोग।

खुनवा जराय के हम उंखिया कमाईं,

लड़िका ना हो पावैं चोटवन कै भोग।

जेठ महीना आ गया है और लू झकझोर कर चल रही है। सूर्य तप रहा है और दुपहरिया नाच रही है। पँछुआ हवा चलकर आग उड़ा रहा है। ऊसर में बवंडर उड़ रहे हैं। दोपहर हुआ देख नाइन पत्ती गा रही है। ताल-तलैया सभी सूख गए हैं। सरिता की धारा भी सिकुड़ गई है। ऊसर की घास अपनी जगह जल मरी, लेकिन तरबूज अब भी उसी प्रकार हरा दिखाई पड़ रहा है, जिस प्रकार दुखियों के बीच एक सुखी मुस्कराए।

पेड़ के नीचे पशु जुगाली कर रहे हैं और चरवाहे सिर हिला-हिलाकर गा रहे हैं।

ऐसी विकट दोपहरी में विपत्ति की मारी विधवा अपने ईख के खेत में क्यारी बना रही है। अब वह दुखी नारी बगल में टोकरी और कन्धे पर कुदाल रखकर चल पड़ी। घर जाकर वह खूब रोवेगी और भूखे बच्चों के पेट को सहलाएगी। बेचारी मेहनत करे और मजा पैसेवाले लोग उड़ावें। हम मेहनत करके ईख उत्पन्न करें और बच्चों को चोटा (शीरा) भी नसीब न हो !

इस बिरहे का एक दूसरा रूप भी हमें प्राप्त हुआ है जिसमें केवल आरम्भ की आठ और ग्यारहवीं तथा बारहवीं पंक्ति है और शेष पंक्तियाँ नहीं हैं। उनके स्थान पर अन्त में निम्नलिखित चार पंक्तियाँ हैं।

अइसने समय में खरबुज्जा हरियइलैं,

अउरो हरा भयल बाय बोरो धान।

हमरे दुसमनवन कै मन हरिअइलैं,

हमरा सूखि गइलैं गरब गियान।

इन बिरहों में बिसराम ने जो कुछ कहा है वह उसके विरहानुभूति की चरम सीमा है। किन्तु उसका प्रकृति-निरीक्षण उससे कम नहीं है। उसने प्रकृति को उसके अकृत्रिम रूप में देखा है और उसे सरल रूप में व्यक्त कर दिया है। उसने छोटी छोटी बातों का सूक्ष्म रूप से निरीक्षण किया है। उसके वर्णन अछूते हैं और उसकी कितनी ही उपमाएँ मौलिक हैं। उसके बिरहों में भाषा की कृत्रिमता का सर्वथा अभाव है। उसमें जो कुछ है निखरा हुआ है। उसका-सा कवि पाकर भोजपुरी ही नहीं, संसार की कोई भी भाषा अपने को गौरवान्वित मानेगी। हमारा विश्वास है कि उसके ये बिरहे विश्वसाहित्य के अनमोल रत्न हैं।

खेद है कि अभी तीन-चार वर्ष पूर्व कुल अट्ठाईस-तीस वर्ष की अवस्था में यह 'महाकवि, संग्रहणी रोग से पीड़ित होकर अपनी 'रानी' के निकट चला गया !

भोजपुरी लोकगीतों में चित्र-कला

गणेश चौबे

प्राचीन भारतीय साहित्य में तो चित्रकला के सुन्दर एवं हृदयग्राही वर्णन मिलते ही हैं। लोक साहित्य भी ऐसे वर्णनों से शून्य नहीं है। भोजपुरी लोकगीतों में घरों की दीवारों को विविध भाँति के चित्रों से अलंकृत करने की भूरिशः चर्चा है। पर यह केवल विवाह के गीतों तक ही सीमित है। अन्य प्रकार के गीतों में हमें भित्ति-चित्र की चर्चा नहीं मिली है। ऐसे चित्राङ्कनों के लिये 'उरेहना' (सं० उल्लेख, भोजपुरी० उरेहल) या 'लिखना' (भो० लिखल) प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार के चित्र साधारणतः घरों के बाहरी एवं भीतरी दीवारों पर और मुख्यतः कोहबर[1] में बनाए जाते हैं। विवाह के एक गीत में भित्ति-चित्र की चर्चा इस प्रकार है:—

पानन[2] मोरे बाबा मँड़वा छवावेले
फुलवा के बान्ह बन्हाई।[3]
ताही भीतरि बाबा पुतरी[4] उरेहेले
चारु चिरइआ[5] जोड़ी हंस[6]।
काहे के[7] मोरे बाबा पुतरी उरेहले
चारु चिरइया जोड़ी हंस।
काहे के बाबा सजन सब नेवतिले[8],
काहे जोगे[9] खोजिले दमाद।
भीति जोगे बेटी हो पुतरी उरेहिले,
चारु चिरइया जोड़ी हंस।

१—कोहबर उस घर को कहते हैं, जिसमें विवाह की वेदी से उठने के पश्चात् ग्रन्थिबन्धन युक्त वर-वधू प्रवेश करते हैं और वहाँ की विधियों की समाप्ति के बाद रात्रि का शेष भाग एक ही शय्या पर व्यतीत करते हैं। कोहबर संस्कृत के कौतुकगृह (कउ-अहर>कोअहर>कोहबर) शब्द से बना है। कोहबर में वर के आगे वधू खड़ी होती है, उसकी अंजलि में चावल भरा जाता है और वर उसे ऊपर की ओर झोंककर बिखेर देता है।

२—पानों से, ३—बन्धन लगाया, ४—पुतली (सं० पुत्रिका), ५—चार चिड़ियाँ, ६—हंस की जोड़ी नर तथा मादा हंस, ७—किस लिये, ८—निमन्त्रित किया, ९—किसके योग्य।

अपने संपति लागि सजन सब नेवतिले,

तुहे जोगे खोजिले दमाद।

(देवरिया जिला के ब्राह्मण परिवार से प्राप्त)

गीत में कन्या के पिता द्वारा मंडप (माँड़ो) की दीवार पर स्त्री, चार चिड़ियाँ एवं हंस की जोड़ी को चित्रित करने की बात आई है। इस गीत में 'पुतरी' स्त्री के चित्र के अर्थ में आया है, यद्यपि इसका प्रचलित अर्थ काठ या कपड़े की बनी नारी मूर्ति है।

पूर्वोक्त गीत के अतिरिक्त अन्य गीतों में भी भित्ति-चित्रांकन की चर्चा हमें मिलती है। यथा—

(क) राजा जनक द्वारे हाथी उरेहल, चनन[1] रचेला[2] लिलार[3] हे।

राजा दसरथ द्वारे चित्र उरेहल, ऊपर नेत[4] फहरासु हे।

(ख) भीतर चित्र उरेहल समधी, मोहेला जग संसार ए।

(ग) कोहबर लिखब चाँद रे सुरुज, मँड़वा लिखब गोपीचंद रे।

(घ) आधा भीति लिखलू ए जासो[5] आलर[6] बिरवा,[7] आधा भीति पाकल[8] पान रे।

(ङ) अङनहि लिखिले मोर रे मजुरवा,[9]

घर में लिखिले गोपी चंद रे।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि राजा जनक के द्वार पर हाथी चित्रित था, जिसका ललाट चंदन से सँवारा गया था। (उनके) घर की भीतरी दीवारों पर ऐसे चित्र बने थे, जिन्हें देखकर सारा संसार मुग्ध हो जाता था। इसी प्रकार कोहबर में चंद्रमा, सूर्य, गोपीचंद (श्रीकृष्ण), कोमल एवं वर्द्धमान पौधा, पका पान एवं मोर (मयूर) के लिखे जाने की चर्चा है। एक पंजाबी लग्नगीत में भी हम भावज को तीतर और मोर लिखते हुए पाते हैं (भावो लिखे तित्तर मोर)।[10]

इस गीत में 'नेत' शब्द आया है। अन्य लोकगीतों में 'नेतसरी चीर' का उल्लेख है। नेत (सं० नेत्र) एक प्रकार का कीमती वस्त्र है। राज्यश्री के विवाह के अवसर पर हर्ष के राजप्रासाद में अनेक प्रकार के कीमती वस्त्र सजाए गए थे, जिनमें एक नेत्र भी था।[11]

१—चंदन, २—सँवारा हुआ, ३—ललाट, ४—सं० नेत्र, एक प्रकार के कीमती कपड़े की पताका, ५—यशोदा का संक्षिप्त रूप, ६—अल्हड़, कोमल एवं वर्द्धमान, ७—पौधा, ८—पका हुआ ९—मयूर (सं०), १०—श्री संतराम, पंजाबी गीत (लाहौर, १९२७) पृ० ८५। ११—डा० मोतीचंद, भारतीय वेष-भूषा, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, विक्रमांक (उत्तरार्द्ध) पृ० २६८।

यह तो हुई गीतों में वर्णित भित्ति चित्रों की बातें। इनके अतिरिक्त कोहबर में पुरइन (कमल-पत्र), कमल के फूल, पालकी, घोड़ा एवं तारिकाएँ भी चित्रित की जाती हैं। लोक-मानस हाथी, घोड़ा, पालकी आदि को वैभव का, गोपीचंद एवं पुतरी को वर-वधू का, सूर्य, चन्द्र एवं तारा को दीर्घजीवन का, हंस एवं मोर को सुखमय जीवन का, पान, पौधा एवं कमल को जीवन और कला का प्रतीक मानता है, फलतः विवाह जैसे शुभ अवसर पर तथा यों भी इन्हें घरों में अंकित किया जाता है।

दीवारों को नानाविध चित्रों से विभूषित करने की परंपरा अत्यन्त प्राचीन है जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण अजंता की गुफाएँ हैं। कादम्बरी के शयनकक्ष की दीवालों पर इतने तरह के चित्र बने थे कि चन्द्रापीड़ को भ्रम हुआ था कि सारी दुनिया ही कादम्बरी की शोभा देखने के लिये चित्र रूप में सिमट आई थी।[1] रत्नसेन की बारात सोने की 'चित्तरसारी' (चित्रशाला) में उतारी गई थी।[2] विभीषण के गृह में 'रामायुध' अंकित थे।[3] त्रिपाठी जी के कथनानुसार 'हमारे घरों में चित्रशाला नाम से एक अलग कमरा होता था और जो नई बहू घर में आती थी उससे एक चित्र बनवाकर उसकी परीक्षा होती थी'।[4] परन्तु गीतों में इसके लिये कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है।

आलेखन के उपादान

कोहबर के चित्रों एवं भित्ति चित्रों के आलेखन में मुख्यतः चूना, सिन्दूर, हल्दी, कज्जल, गेरू एवं चौरठ (चावल का आटा) काम में लाते हैं। पहले दीवाल को चूने से तथा अभाव में पीली मिट्टी से लीप दिया जाता है। पश्चात् चौरठ में हल्दी डालकर लेप तैयार किया जाता है, उससे दीवालों पर आकृतियाँ लिखी जाती हैं और गेरू, काजल एवं सिन्दूर से सँवारी जाती हैं। गीतों में कोहबर की भित्ति को चंदन से लीपने की चर्चा है, (चंदन भीत पँड़ोहिले)। एक गीत में कज्जल से कोठी के कंधे पर कोहबर लिखने की बात है। कोहबर के एक दूसरे गीत में नव रंगों या प्रकारों के कोहबर लिखने का उल्लेख है। यथा,

आधा भीति लिखवों मैं नव रङ[5] कोहबर,

आधा भीति चुनवे[6] चुनवटल[7]।

यह नव रंग या प्रकार कौन कौन सा था, इसका कहीं उल्लेख नहीं है। एक अन्य कोहबर के गीत में चावल के आटे से कोहबर लिखने की चर्चा है (पीसहुँ पीठरवा[8] हे सीता सुनर, लिखू लामी कोहबर)। एक पंजाबी गीत में भी चौरठ से चित्राङ्कन का उल्लेख है।[9]

१—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्राचीन भारत का कला विकास (कलकत्ता) पृ० ५४

२—जायसी, पद्मावत (काशी, २००८) पृ० १२३।

३—रामायुध अंकित गृह, सोभा बरनि न जाइ। मानस, सुन्दरकांड (गीता प्रेस)

४—पं० रामनरेश त्रिपाठी, ग्राम-साहित्य, जनपद, खं० १ अं० १, पृ० १२

५—रंग या प्रकार, ६—चूने से, ७—चूना से पोता हुआ, ८—चावल का आटा, चौरठ, ९—'चिट्टे चिट्टे चावल पिहावो, चितावो राजे रावटियाँ' श्री संतराम, वहीं, पृ० ४७।

मूर्तिकला

लोकगीतों में हम मूर्तिकला की भी चर्चा पाते हैं, परन्तु ऐसे वर्णन कम मिलते हैं। सम्भवतः यह कला वर्गविशेष तक ही सीमित थी, चित्रकला-सी समाजव्यापी नहीं। फिर भी हमें कतिपय ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं, जिससे गीतों में प्रशंसित उन्नत मूर्तिकला पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। उदाहरणार्थ विवाह का एक गीत नीचे दिया जाता है:—

राजा जनक घरे धिश्रवा[1] जनमेली, मनहि करेले गुनानी[2]।
हमरे निरधन घरे धिश्रवा जनमली, कइसे के होइहें बिश्राह ॥
मोरे पछुश्ररवा बढ़इश्रा भाई हितवा, काठे के पुतरिश्रा[3] गढ़ि देव।
श्रस के पुतरी उरेह भाई बढ़ई, दहेज परि जइहें थोर ॥
गढ़ि गढ़ि बढ़ई पुतरी लेइ श्रइले, पुतरी हँसे मुसकाय।
दान दहेज समधी घरे धइ राखब, बढ़इश्रा छोकड़वा हमें देब ॥
हंडा[4] में देबों तमरुश्रा[5] ए समधी, बारहो बरध[6] धेनु[7] गाय।
एक नाहीं देबों में बढ़ई के छोकड़ा, जिन मोरा दल के सिङार[8] ॥
एतना वचन जब सुनले, दुलहे राम उठे भहराय[9]।
बिश्राहल धेरिश्रा[10] चउक पर छोड़ब, घोड़े पीठि भइले श्रसवार ॥
कवरे[11] से बोलेली बेटी हो कवन देई[12], बाबा से बिनती हमार।
जेही के सोनवा श्रइसन बेटी संकलपिले[13], बढ़इश्रा छोकड़वा कवन बुनिश्राद[14] ॥

—देवरिया जिला के ब्राह्मण परिवार से प्राप्त।

बढ़ई के पुत्र ने ऐसी सुन्दर नारी-प्रतिमा (पुतली) गढ़ी थी जो कभी हँसती और कभी मुस्कुराती सी दीख पड़ती थी। पद्मावती के शयनागार के खंभों पर ऐसी ही प्रतिमाएँ उत्कीर्ण थीं, जो सजीव सी प्रतीत होती थीं।[15] रघुवंश में भी खंभों पर गढ़ी हुई 'योषित्प्रतियातना' का उल्लेख है।

इस गीत पर गौर करने से लोक मानस की कलाप्रियता पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। वर का पिता दहेज में मिलनेवाली सारी वस्तुश्रों को छोड़कर उस कलाकार को माँगता है, जिसने

१—पुत्री (सं० धीय), २—चिन्ता (सं० गुणन), ३—नारी प्रतिमा, ४—रसोई बनाने का बड़ा बर्तन, ५—तांबे का जलपात्र, ६—बड़ा बैल (सं० बलीवर्द), ७—हाल की ब्याई गाय, ८—शोभा, ९—झुँझला उठे, १०—पुत्री (सं० धीय), ११—कौन, १२—देवी, १३—संकल्प करके दे दिया, १४—कीमत।

१५—पुतरी गढ़ि गढ़ि खम्भन काढ़ी। जनु सजीव सेवा सब ठाढ़ी ॥

जायसी वही, पृष्ठ १२७।

इतनी सुन्दर पुतली बनाई है। कन्या का पिता निर्धन होने पर भी अपने 'दल के सिंगार' उस बढ़ई के पुत्र को देना नहीं चाहता है, फलतः स्वसुर और दामाद में नोक-झोंक का अवसर उपस्थित हो जाता है।

एक दूसरे गीत में सीता के विवाह के मंडप (माँडो) के निर्माण की चर्चा है, जिसके ऊपर हंस बैठाया गया था। एक और गीत में दुलहे के मौरी के चारों कोने पर चार चिड़ियाँ बनाने को माली से आग्रह किया गया है। एक झूमर में देवर अपनी भावज के लिये ऐसी चोली सीने के लिये दर्जी से प्रार्थना करता है जिसमें दोनों उरोजों के मध्य मोर की आकृति बनी हो। एक राजस्थानी गीत के तोरण पर अगल बगल में दो चिड़ियाँ एवं बीच में एक हरा सुग्गा बोलता हुआ अंकित है।[1]

यह है लोकगीतों की दुनिया का चित्र एवं मूर्ति के प्रति अनुराग !

१—'अदन-बदन दोय चिड़कुल बोली, उणाँ बिच बोलै हरियो सुवटो।'

श्रीराम सिंह, राजस्थान के लोकगीत, पूर्वार्द्ध (कलकत्ता, १९३८) पृ० १२३

संथाली लोकगीतों में दाम्पत्य-जीवन

डोमन साहु 'समीर'

संथाल बाला दाम्पत्य-प्रेम का महत्व जानती है। उसके गीतों में इस स्वर्गीय प्रेम की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।

प्रेम के हर्ष-विषाद, आनंदाश्रु, मिलन, उच्छ्वासपूर्ण रास्ते से गुजरते हुए 'दो देहों में एक प्राण' की बातों से उसके हृदय में तरह-तरह की भावनाएँ उठती हैं। वह भली-भांति जानती है कि भरा पूरा घर हो अथवा फला-फूला परिवार, दाम्पत्य-संबंध के बिना जीवन में कोई सुख नहीं, कोई सौंदर्य नहीं। क्योंकि :—

खाजाड़ी-खाजाड़ी को मेना गो, नायो गो ;
दाका बाङ खान दो मिछा काना।
आपा-बारे आपा-बारे को मेना गो, नायो गो ;
हेरेल बाङ खान दो मुरवाद बानुक्। (दोङ)

—'मूढ़ी-खजाड़ी'[1] की बात लोग करते हैं;
भात न हो तो वह बिल्कुल व्यर्थ है।
भाई-बाप की बात लोग करते हैं;
पति न हो तो स्त्री की कोई मुरौवत नहीं।

बुरु रे सारजोम,
साकाम एना मेनखान नापाय ञेलोक्।
दारा-हारा चातोम ओड़ाक्, आताङ पिएडा;
घिरनी बाङ खान दो साजाक बानुक्। (दोङ)

—पहाड़ पर सखुए का पेड़,
(उसमें) पत्ते हों तो देखने में सुन्दर लगता है।
बड़ा-सा घर, ऊँचे-पूरे ओसारों से घिरा ही क्यों न हो;
गृहिणी न रहे तो उसकी कोई शोभा नहीं।

इसलिए, अपने हमजोलियों को विवाह के पवित्र बन्धन में बँधते देख उसके मन में भी एक जीवन-संगी की चाह जगती है, शाश्वत प्रेम की लालसा उत्पन्न होती है और वह अपने समस्त आशा-विश्वासों के साथ अपनी मौन प्रार्थना से परमात्मा के चरणों में निवेदन करती है। देखिए:—

१—एक विशेष प्रकार से भूँजा हुआ चावल।—के०

निञ तुर कुड़ी हों को जावाँय एन;
निञ तुर कोड़ा हों को बाहूवान;
निञ गे मिनाञा कुँआरी दो !
धिरी रे दुड़ुप् काते, जोहारे चापो काते,
चाँदोञ कोयेया, दिनी जुरी। (दोङ)

—मेरी उम्र की लड़कियों की शादी हो चुकी;
मेरी उम्र के लड़कों की भी शादी हो चुकी।
मैं ही अब तक क्वाँरी रह गई हूँ।
चट्टान पर बैठकर, गाल पर हाथ रखकर, भगवान से कहूँगी—मुझे जीवन-संगी दो।

यदि चाहती तो स्वेच्छा से भी वह अपना जीवन-संगी ढूँढ़ ले सकती थी, किसी नायक के साथ निकल जा सकती थी। तब उसे ईश्वर से ऐसी प्रार्थना करने की जरूरत ही न पड़ती। संथाल समाज में उसकी यह बात कोई अनहोनी घटना भी नहीं समझी जाती। परन्तु संस्कृत काम उसे ऐसा करने की अनुमति नहीं देता। नायिका नहीं चाहती कि वह जीवन की लोकान्तर्गत परिधि से बाहर हो कोई व्यापार करे। ऐसी अवस्था में परमात्मा से मौन प्रार्थना करने के सिवा उसका कोई दूसरा चारा नहीं।

परन्तु दयालु परमात्मा ने जैसे उसकी वह करुण पुकार सचमुच सुन ली हो। शायद, इसीलिए तो 'पियो', जो विवाह-शकुन-सूचक पक्षी समझा जाता है, उसके आस-पास चहकता हुआ दिखाई देने लगा :—

ओत रे हों पियोम पियो केदा;
दारे रे हों पियोम पियो केदा;
बाडाय किदाञ पियोम रायबारञ कान।
आडी संगिञ पियो नालोम पियोया;
बुरु दिसम पियो रायबारञ मे। (दोङ)

—'पियो' ! तुम जमीन पर भी 'पियो-पियो' बोला;
पियो ! तुम पेड़ पर भी 'पियो-पियो' बोला;
पियो ! मैं जान गई, तुम मेरी सगाई कर रहे हो।
पियो ! बहुत दूर मेरी सगाई मत करना;
पियो ! मेरी सगाई किसी पहाड़ी इलाके में करना !

सगाई भी हो तो किसी पहाड़ी इलाके में ! इस छोटे-से लोक-गीत में संथाल-बाला के प्रकृति-प्रेम की कितनी यथार्थ अभिव्यक्ति हुई है।

सगाई पक्की हो गई। विवाह हो रहा है। पाँच पत्तोंवाली आम की टहनी से दूल्हा दुलहिन के ऊपर लोटे का जल छिड़क रहा है। ऐसे समय दुलहिन की भावनाओं का चित्र एक गीत में यों उभरता है :—

मोंणें गोटेन उल साकाम, मित् लोटा दाक्;
इरचीयाञ काना चोम बाङ चोङ,
लोहोत् इदीञ कान चोम बाङ चोङ;
बुन्दीयिदिञ दोम जोनोमे-जोनोम। (दोङ)

—आम के पाँच पत्ते, एक लोटा पानी;
तुम मुझ पर जल क्या छिड़क रहे हो,
तुम मुझे भिंगों क्या रहे हो।
तुम तो मुझे जन्म-भर के लिये विवाह-बंधन में बाँध रहे हो।

विवाह के सिन्दूर की महिमा ही कुछ ऐसी है कि—

पुखुरी पिण्डा रे;
बाबाय रोहोय लेदा उले दारे।
उल उमुल दो होड़मोय रेयाड़ा;
पुरिया सिन्दूर दो जिवीय राड़ेज। (दोङ)

—तालाब की मेंड़ पर;
पिताजी ने आम का पेड़ लगाया था।
आम की छाँह शरीर को शीतलता पहुँचाती है;
(परन्तु) पुड़िये का सिन्दूर प्राणों को शीतलता प्रदान करता है।

धन्य हो तुम 'पुड़िये का सिन्दूर !' जानें, किस शुभ घड़ी में तुम्हारा जन्म हुआ था कि तुम युगों की उपेक्षिता एक सन्थाल-बाला के प्राणों में भी शीतलता पहुँचा सकते हो! पता नहीं, तुमने कौन-सा ऐसा जादू कर दिया कि—

उपाल चेकाते जानुमाना ?
कुइण्डी चेकाते सुनुमाना ?
होपोन एटाक् रेन, एटाक् रेन होपोन एरा,
दू रे चेकाते मन मिलाउ एन (दोङ)

—कमल में कांटे कैसे होते ?
कोईन (महुए के बीज) में तेल कहाँ से आता ?

दूसरे का लड़का, दूसरे की लड़की,
दोनों का मन कैसे एक हो गया !

इतना ही नहीं:—

बोगे एँगामताम, बोगे आपुमताम;
ताला जिन्दा किन बिदा केत् मे !
इञ दोञ मेन केदा, जिन्दा सिसिर तैम डोलाव एन;
हाय रे जुरी नुमुल जुडासी से ! (दोङ)

— धन्य है तुम्हारी मा, धन्य हैं, तुम्हारे पिता जी
उन्होंने आधी रात के समय तुम्हें विदा कर दिया !
मैंने समझा था, रात के शिशर से तुम डोल जाओगी;
(मगर नहीं;) साथी की छाँह भी क्या खूब है !

विवाह हो गया है। कन्या अपनी ससुराल में है। पति को उसके सुख-दुख का ख्याल है। हो सकता है वह (पति) उसे वैसा सुख न पहुँचा सके जैसा उसने (पत्नी ने) अपने नैहर में पाया है। वर्त्तमान चाहे जैसा भी हो, भविष्य की चिंता तो है ही। अस्तु:—

आम दो किसाँण होपोन, इञ दो रेंगेच् होपोन;
तोवा-दाहे दो आलोम उइहार।
आले दिसम दो बुरु रे सिञ आड़ाक्;
डाडु ते घाण्टाय दो होडोरगोत्-होडोरगोत्।
ताला बइहाड़ रे कान्था आड़ाक्;
झिनुक ते खायोद दो खायोरगोत् खायोरगोत्।
तोवा-दाहे दो नालोम उइहार। (दोङ)

—तुम धनी घर की लड़की हो, मैं गरीब का लड़का हूँ;
दही-दूध की याद मत करना।
हमारे इलाके में पहाड़ पर 'कौंड़रा' साग होता है;
उसे 'डौए' से चला-चलाकर पकाया जाता है।
बिचले खेतों में 'कान्था' साग होता है;
उसे सीपी से खुरच-खुरचकर तोड़ा जाता है।
दही-दूध की याद मत करना।

तात्पर्य यह कि नैहर के सुखों को भूलकर तुम्हें अपनी ससुराल के सुख-दुःखों के साथ चलना है। हो सकता है समय पर दूध-दही के बदले सिर्फ साग-पातों पर ही गुजर करना पड़े। एक तथाकथित असभ्य ग्रामीण पति के हृदय में कितनी नम्रता, सरलता एवं अपनी पत्नी के

प्रति निश्छलता भरी पड़ी है, इसका ज्वलन्त उदाहरण इस संथाली लोकगीत में स्पष्टतः देखा जा सकता है।

पति-पत्नी, दोनों, सड़क पर जा रहे हैं। काम के मद में मतवाला पति अपने को भूल-सा जाता है। वह अपनी प्रियतमा को आलिंगन-पास में लाना चाहता है। परन्तु पत्नी संयम से काम लेती है। वह लोक की मर्यादा का उल्लंघन नहीं कर सकती। साथ ही वह अपने दाम्पत्य प्रेम का तिरस्कार भी नहीं करना चाहती। अस्तु —

सड़क-सड़क ते लाङ चालाक् काना;
ताला सड़क रेम कोकेञ काना।
होटोक् रे दो सारी, नालो सेम कोकेञा;
धिरी हिसिर मालाम तोपाग तिञा।

—हम दोनों सड़क पर चले जा रहे हैं; (दोङ)
बीच सड़क में तुम मेरे गले में अपनी बाँह डाल रहे हो!
प्रियतम! मेरे गले में अपनी बाँह मत डालो;
मेरी चकमक पत्थरों के मणकों की माला टूट जायगी!

नायिका ने गले की माला टूट जाने के बहाने लोकमर्यादा की रक्षा के लिये पारस्परिक प्रेम को निभाते हुए, किस चतुराई से, ध्वनि से, काम लिया है, यह वास्तव में, ध्यान देने की चीज है!

ऐसे ही एक प्रसंग का उल्लेख एक दूसरे लोकगीत में है जब पत्नी अपने रसिक पति को 'कुपथ निवारि सुपंथ' चढ़ाती है :—

आम दो किन्दिरी बानाम ताम;
आम दो पितार सिरियो।
आम दो सिन्दा-उताम दाँड़ाना;
आम दो आमाक् जिवीम भैरीयाक् कान। (दोङ)

—तुम्हें 'किन्दिरी' की सारंगी साथ में है;
तुम्हें पीतल की बाँसुरी हाथ में है।
तुम रात-अँधेरे में भी घुमा-फिरा करते हो;
तुम्हें अपनी जान भारी तो नहीं हो गई है?

और नहीं तो क्या! रात-बिरात, अंधेरे में कहीं कोई 'साँप-बिच्छू' डंक मार दे तो? बंद करो यह साथ में सारंगी, हाथ में बाँसुरी लेकर रात-बिरात घूमने-फिरने की आदत!

एक ऐसा ही प्रसंग पति के लिये भी आता है जब वह अपनी पत्नी के प्रति कुछ इसी तरह की ध्वन्यात्मक उक्ति का प्रयोग कर उसे रास्ते पर लाने की कोशिश करता है। देखिए :—

इञ हों को मिताञा कुढ़िया ;
आम हों को मेतामा कुढ़नी ;
बाड़गे लातार रेज कुम्बा बालाङ ।
दुन्दु लेका लाङ बेंगेत् आपाम ढोरो-ढोरो ;
तोयो लेका लाङ जोम बी कोक् आ । (दोङ)

—ये लोग मुझे भी निकम्मा कहते हैं ;
ये लोग तुम्हें भी निकम्मा कहते हैं ;
चलो, हम बाड़ी के नीचे अलग एक झोपड़ी बना लें ।
वहाँ हम दोनों, एक दूसरे की आँखों में आँखें डाले, उल्लू की तरह ताकते रहेंगे ;
वहाँ हम दोनों भर-पेट खाकर सियार की तरह पड़े रहेंगे ।

पत्नी के आलस और निकम्मेपन पर कितना गहरा व्यंग्य कसा गया है, यह बात इस गीत की पंक्तियों से पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है ।

जिस प्रकार संस्कृत काम अपना विकास दाम्पत्य-जीवन में पाता है उसी प्रकार, जैसा कि प्रसिद्ध बँगला उपन्यासकार श्री शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय ने लिखा है, संतान उत्पन्न करने की इच्छा ही प्रेम है और संतान धारण करने की योग्यता ही सौंदर्य । इस संबंध में संथाली के निम्नलिखित लोकगीतों पर गौर करें तो पता चलेगा कि प्रेम और सौंदर्य की धारा संथालों के दाम्पत्य-जीवन में किस सीमा तक प्रवाहित हुई है । अस्तु :—

माराङ बुरु चोट रे सारजोम दारे ;
साकाम ताहेन बाङ साजाव जेलोक् ।
ओड़ाक् रे धन दो, दुआर रे कापाट ;
होपोन बाङ खान दो साजाव गे बाङ । (दोङ)

—बड़े पहाड़ की चोटी पर सखुए का पेड़ ;
(उसमें) पत्ते हों तो देखने में सुंदर लगे ।
घर में धन-दौलत हो, दरवाजे में फाटक हो ;
(परन्तु) पुत्र न हो तो उसकी कोई शोभा नहीं ।

आम दो जीवन रे बापला काते;
बारसिञ मा दिन ते गे गिदराम आम कान ।
होर रे गे जीवन जेल मे से दारे नाँड़ी बो;
बाहा लेन बा जीवन जो दो साबोक् । (दोङ)

—प्रियतम ! तुम तो विवाह के,
दो ही दिन बाद संतान की कामना करने लगे ।

प्रियतम ! रास्ते में ही इन पेड़ों और लत्तरों के फलों को क्यों नहीं देखते ?
फूल खिल लेने के बाद ही न फल लगते हैं !

भला, इस प्रकार अधीर होने से क्या लाभ ? फूल को पूर्णतः विकसित भी तो हो लेने दो। भूलते क्यों हो कि स्त्री का पूर्ण विकसित रूप मातृत्व में ही है ?

दाम्पत्य-जीवन में कभी-कभी ऐसा अवसर आता है जब युगल जोड़ी परस्पर रूठते भी हैं। परन्तु ऐसे समय भी दाम्पत्य-प्रेम दोनों को एक निर्मल प्रणय-तंतु में बाँधे रहता है।

होला तिकिन रे लाङ झागड़ा एना;
तैहेञ तिकिन धाबिच् मेलो-मेचो।
ने हो, ने सारी, ने दतौनी;
होला के दोक् पिटा अुटुक्-अुटुक्। (दोङ)

—कल दोपहर को हम दोनों में झगड़ा हुआ;
आज दोपहर तक दोनों एक दूसरे से रूठे रहे !
प्रिये ! लो, यह दतुवन-पानी लो ;
कल शाम की स्वादिष्ट रोटी अबतक रखी हुई है !

परन्तु यह मानिनी जल्दी माननेवाली नहीं। असल में 'बात मीठी होती है, भात मीठा नहीं होता।' तुम्हें सोचना चाहिए कि—

बिर चेंणें राग दो दारे हिरला;
इञाक् जिवी दो बे-हिरला येन।
दाया हो बाङ ताम, माया हों बाङ ताम;
इञाक् जिवी दो बे-हिरला येन। (दोङ)

—जंगल की चिड़िया रोए तो उसे पेड़ की शरण मिले;
मेरे प्राणों को कोई शरण नहीं।
तुम्हें मुझ पर दया भी नहीं है, तुम्हें मेरी ममता भी नहीं है;
मेरे प्राणों को कोई शरण नहीं।

आखिर ऐसा क्यों ? यदि किसी कारण मैं तुम्हारे लिये भार ही हो गई हूँ तोः—

राचा जोजोक् रेम एगेर किदिञ;
गुरिच् गिडी रेम लेबदा किदिञ।
बाङ दो इञ दो गुरिच् माँदे रे गेम आम लिदिञ;
निदी काञ मे, जुरी, जिया काञ मे। (दोङ)

—आँगन बुहारते समय तुमने मुझे गाली दी;
गोबर फेंकते समय तुमने मुझ पर लाठी चलाई।

क्या तुम मुझे गोबर की ढेरी से उठा लाए थे ?
प्रियतम ! मुझे अपने बाप-भाई के यहाँ पहुँचा दो, उन्हें जिम्मा कर दो ।

स्त्रियों को अपने नैहर पर अत्यधिक भरोसा रहता है । अपनी दुरवस्था में भी वे अपने इस स्वाभिमान का आँचल नहीं छोड़तीं ।

अन्त में, कभी कभी वह समय भी आता है जब पति-पत्नी में तलाक होता है । संथाल-समाज में तलाक का रिवाज काफी प्रचलित है । जब एक बार पति या पत्नी के मन में कोई गाँठ पड़ जाती है तो तलाक के लिये कोई न कोई बहाना ढूँढ़ ही लिया जाता है । देखिए:—

आम दोम एसेल एन, इञ दोञ हेन्देयेन;
बालाङ जुरी लेन, दे लाङ बापाग ।
जेमोन खिजुर पात पोड़े नाइ रे;
तेमोन आमार मन छाड़िबे नाइ । (दोङ)

—तुम गोरी हो, मैं साँवला हूँ;
हम दोनों की जोड़ी बैठी नहीं, हमारा तलाक हो जाय ।
जैसे खजूर का पत्ता (डंठल से कभी) अलग नहीं होता;
वैसे ही मेरा मन तुमसे बिछुड़ नहीं सकता ।

फिर तलाक हो भी कैसे ? प्रियतम ! दाम्पत्य के बन्धन को इतना तुच्छ मत समझो । मुझे इतना कमजोर समझने की भूल न करो कि एक हल्के-से झटके में अपने से अलग कर सको !

वीर-बरह्म

[वासुदेवशरण]

केले के पेड़ में जैसे एक के ऊपर एक चढ़े हुए पर्तों के भीतर गाभा रहता है वैसा ही कुछ भारतीय संस्कृति का रूप है जिसमें अनेक संस्कृतियों के खोल एक दूसरे के ऊपर चढ़ते चले गए हैं। वे सब एक दूसरे के साथ चन्दन की शीतलता से इस प्रकार मिल बैठे हैं जैसे गंगा की धारा में आपसी टक्करों से गोलमटोल बने हुए गँगलोढ़े एक साथ पड़े रहते हैं, एवं और भी अधिक अभेद की स्थिति प्राप्त करने के लिये टकराते रहते हैं। यह संस्कृति विचित्र है। कौन इसके सारे पर्तों को खोलकर पढ़ सकता है ? कहाँ से क्या आ गया है, किसने कितना दिया है और किसने कितना लिया है, इसका सच्चा लेखा-जोखा लगाना कठिन काम है। सांस्कृतिक इतिहास के महागणकों का बूता उसके आगे हार जाता है। फिर भी रेडियम के उछटते हुए स्फुलिंगी कणों की भांति सांस्कृतिक समन्वय के प्राचीन तथ्य जब चमक कर दृष्टिपथ में आ जाते हैं तो उनसे मन को विलक्षण आनन्द प्राप्त होता है और इस महती संस्कृति के प्रति श्रद्धा बढ़ती है एवं उस जीवन क्रम के प्रति हम आस्थावान् बनते हैं जिसकी श्वास-प्रश्वास में, समवाय और समन्वय में मेलजोल और स्वच्छन्दता की प्राणवायु क्रियाशील रही है। भारतीय संस्कृति सभी विभिन्न तत्त्वों का संग्रह करती है, निराकरण जैसे उसे सुहाता ही नहीं। नदी, वृक्ष, पर्वत, यक्ष, नाग, देव, भूमि आदि अनन्त देवी-देवताओं की पूजा-मान्यता को स्वीकार करती हुई यह संस्कृति आगे बढ़ी है। निषाद जाति के नाग और यक्ष, द्रविड़ों के शिव, और आर्यों के देव एक दूसरे से कंधा मिलाकर भारतीय संस्कृति के गोपाल-गूजरी रास में एक साथ नृत्य करते हुए देखे जा सकते हैं।

इस अनुपम सत्य की ओर कितनी ही बार पहले भी मेरा ध्यान गया था, किन्तु नवम्बर, १९५१ से काशी विश्वविद्यालय में आने के बाद इस विषय की अधिकाधिक लोक साक्षी सामग्री मेरे दृष्टिपथ में आती चली गई। यहाँ विश्वविद्यालय में प्राचीन यक्ष पूजा के कितने ही प्रमाण जीते-जागते मिले। काशी में बीर-बरह्म की पूजा और मान्यता अभी तक चालू है। यह प्राचीन यक्ष पूजा का ही दूसरा नाम है। अथर्व वेद में यक्ष को ब्रह्म कहा गया है। ब्रह्म की अपराजिता पुरी में महाकाय यक्ष का निवास है। उस ब्रह्म या यक्ष के पास अमृत है, यही उसकी मान्यता का मुख्य कारण है। केन उप-निषद् के अनुसार ब्रह्म देवों के समक्ष यक्ष रूप में प्रकट हुआ। देवी भागवत में कहानी का रूप यह है कि देवों और असुरों के युद्ध में देवता जीत गए तो उन्होंने अभिमान किया। तब ब्रह्म यक्ष का रूप धरकर देवों के सामने आया। देवता उसे न पहिचान सके। तब अग्नि, वायु, वरुण आदि देवों ने उसकी शक्ति की परीक्षा ली, पर सब असफल रहे। तब उस यक्ष ने कहा कि तुम्हारी शक्ति कुछ नहीं, शक्ति तो मैं देता हूँ। उपनिषद् की कहानी का ठाट भी लगभग

यही है। वैदिक साहित्य, सूत्र ग्रन्थ, रामायण, महाभारत, बौद्ध और जैन साहित्य और इन धर्मों से सम्बन्धित प्राचीन भारतीय कला, इन सब में यक्षों की मान्यता और पूजा के वर्णन भरे हुए हैं। बीर और ब्रह्म ये दोनों शब्द यक्षों के लिये ही प्रयुक्त होने लगे। मध्यकालीन साहित्य बावन बीरों के उल्लेखों से भरा हुआ है। काशी में और विश्वविद्यालय की सीमा के भीतर भी बीरों के कितने ही चौरे या अस्थान हैं। इस प्रकार यक्ष पूजा का साक्षात् प्रमाण लोक जीवन में देखकर अत्यन्त आश्चर्य और कुतूहल हुआ। आज भी यक्षों के इन स्थानों पर पूजा और मान्यता बराबर होती है। न केवल काशी, बल्कि आसपास के सभी जिलों में बीर बरह्म की पूजा चालू है। १६-४-५२ को सेवापुरी से लौटते हुए श्री हजारी प्रसाद जी द्विवेदी ने बताया कि उनके बलिया जिले के गाँव गाँव में बरह्म का चौरा पाया जाता है जिस पर मिट्टी का थूहा जैसा बना रहता है। बीर की पूजा भी होती है। वस्तुतः महावीर की दो तरह से पूजा होती है। एक मन्दिर में हनुमान् की मूर्ति के रूप में और दूसरे थूहे या स्तूप के रूप में। यह दूसरी पूजा बीर या यक्ष पूजा ही है। बड़े यक्ष का नाम ही महावीर हुआ। उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों में दीवाली के दिन जिसे कामसूत्र में यक्षरात्रि कहा गया है, महावीर का जन्मदिन माना जाता है और प्रत्येक घर में राट का चूर्मा बनाकर उनकी पूजा की जाती है। यह यक्ष पूजा का ही अवशेष है। पूर्वी जिलों में आज भी यक्ष पूजा में इस प्रकार का प्रसाद बनाया जाता है। हमें विदित है कि यक्षों के नामों में पहले छोटे और बड़े विशेषण जोड़ दिए जाते थे। भारहुत की कला में बहुत से यक्षों के नाम मिले हैं। उनमें एक महाकोका और दूसरी चुल्लकोका देवता है। इन्हें ही छोटी बड़ी कोका यक्षी समझना चाहिए। काशी में ही एक प्रसिद्ध बीर लहुराबीर है जिसका अर्थ है छोटा बीर। लहुरा नाम से ही ज्ञात होता है कि चुलकोका महाकोका के जोड़े की तरह काशी में कोई बड़ा बीर भी अवश्य था। काशी में बुल्ला नाला प्रसिद्ध है। संस्कृत विपुलसे बिउल बुल्ला बना है। विपुल चन्द्र का ही अपभ्रंश रूप बूलचन्द्र है। बुल्लानाला यह नाम बुल्ला बीर के नाम से पड़ा हुआ ज्ञात होता है। इसी के आस पास कहीं बुल्ला बीर का थान रहा होगा। काशी में और भी बीरों के कितने ही अस्थान हैं जिनमें भेलूपुरा का डोड़िया बीर प्रसिद्ध है। ये सब प्राचीन यक्ष पूजा के ही अवशिष्ट रूप हैं।

१७-४-५२ को श्री व्यौहार राजेन्द्र सिंह से बीर बरह्म की चर्चा हुई। उन्होंने बताया कि उनके यहाँ मध्य प्रदेश में बरह्मदेव या बरह्म बाबा की पूजा होती है। बरह्म प्रायः करके झाड़ पर रहता है। बीर का भी झाड़ होता है या चबूतरा भी बनाया जाता है।। यह वृक्ष प्रायः पीपल का होता है जिस पर बरह्म या ब्रह्म या यक्ष का स्थान होता है। उन्होंने एक विलक्षण बात की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया कि गोस्वामी जी ने भी विनय-पत्रिका में महावीर की आराधना के रूपक का वर्णन किया है—

"बीर महा अवराधिए साधिए सिधि होय,
सकल काम पूरन करै जानैं सब कोय। इत्यादि"

बड़े बीर की आराधना करनी चाहिए, उसके साधने से सिद्धि मिलती है और सब

कामनाएँ पूरी हो जाती हैं। शीघ्र ही उस पूजा का उपदेश लेना चाहिए। उसका बीज मंत्र जैसे शिव जपते हैं, जपना चाहिए। पानी से तर्पण द्वारा, घी से, समिधा से, अग्नि से और बलि कर्म से उसकी पूजा होती है। वह वीर उच्चाटन, वशीकरण और मारण करता है एवं सम्पदा का आकर्षण करता है। जो इस बड़े वीर को इस भांति पूजता है, वह रघुनाथ जी की प्राप्ति के मार्ग में बढ़ जाता है (विनय पत्रिका १०८)। अवश्य ही इस वर्णन में जिन अभिप्रायों का उल्लेख किया गया है वे लोक-प्रचलित बीर पूजा से ही लिए गए हैं। महावीर की वीररूप में जो पूजा पूर्वी जिलों में प्रचलित है, उसका ज्ञान गोस्वामो जी को अवश्य रहा होगा।

उसी दिन गरौठा से श्रीकृष्णानन्द गुप्त आए। उनसे भी बीर बरह्म पूजा के विषय में चर्चा हुई। उन्होंने पहले तो बताया कि यह पूजा हमारे यहाँ नहीं होती, पुन बोले कि हाँ हमारे यहाँ बीर की पूजा होती है, बीर का चबूतरा होता है और 'बीर' लोगों के सिर भी आते हैं। बीर-पूजा के लोक-गीत भी गाए जाते हैं। सम्भवतः बीर और बरह्म की पूजा भी होती है। श्री परमेश्वरीलाल गुप्त ने बताया कि बीर-बरह्म की पूजा आजमगढ़ जिलेमें भी प्रचलित है। श्रीहरिहर प्रसाद गुप्त ने, जिन्होंने लोक-साहित्य पर काम किया है, कहा कि उनके जौनपुर जिले में भी बीर-बरह्म पूजे जाते हैं।

संयोग से २०-४-५२ को भारतीय संस्कृति के अद्भुत विद्वान् श्री सुखलाल संघवी विश्वविद्यालय पधारे। उनसे बीर बरह्म की चर्चा आई। उन्होंने बताया कि जैन मत में भी ५२ वीरों की साधना की जाती है। पुराने ग्रन्थों में जक्ख-चेइय या जक्खायतन का बराबर उल्लेख आता है; वस्तुतः महावीर के ठहरने के सबसे उपयुक्त स्थान जक्खायतन ही थे। बीरों के बहुत से गीत भी बने हुए हैं, जिन्हें गुजरात में शिलोगो (संस्कृत श्लोक) या छन्द कहते हैं। ५२ बीरों के अनेकों शिलोगो मिलेंगे, पहले मुझे बीरों के सैकड़ों शिलोगो या छन्द बचपन के सुने हुए याद थे। बीरों के साथ ५६ जोगिनी भी पूजी जाती हैं। ऐसा विश्वास है कि जैन मन्दिर में यक्ष-यक्षिणी की मूर्ति के बिना तीर्थंकर मन्दिर की रक्षा नहीं हो सकती। ऐसी कथाएँ भी आती हैं, कि यक्ष के उपद्रव करने पर उसकी शान्ति कराई गई। भगवान् महावीर का जन्म-जात नाम वर्द्धमान था। जब उनकी प्रसिद्धि हुई और मान्यता बढ़ी तो वे बड़े वीर या महावीर कहलाने लगे। हो सकता है कि महावीर शब्द वीर शब्दावली से लिया गया हो। श्री परमेश्वरीलाल जी ने कहा कि हमारी बोली में भी लोकोक्ति है कि "ऐसा करूँ तो बावन बीर कहाऊँ"। ज्ञात होता है कि पहले किसी समय ५२ बीरों के प्रमुख स्थानों की गिनती कर ली गई थी जैसी १०८ देवी के पीठों की। 'पृथ्वीराज रासो' में दी हुई ५२ बीरों की सूची में कई नाम ऐसे हैं जो प्राचीन परम्परा से सम्बन्धित जान पड़ते हैं जैसे मानिक, रुद्र, समुद्रतरन, समुद्र शोक, इन्द्रवीर, जमवीर, सहस्रांग, नरसिंह, देवाग्नि, क्षेत्रपाल, लोहभञ्जन आदि। इस सूची का मानिक रुद्र अवश्य ही प्राचीन माणिभद्र यक्ष है, जिसकी मान्यता किसी समय मथुरा और प्राचीन पद्मावती (ग्वालियर का पवाया) तक प्रचलित थी। मथुरा में परखम गाँव से माणिभद्र यक्ष की महाकाय मूर्ति मिली है। बंगाल में माणिभद्र वीर माणिक वीर के रूप में

आज भी पूजा जाता है। जिस प्रकार प्राचीन काल में माणिभद्र सार्थवाहों का देवता था वैसे ही माणिक पीर को मछुए-मल्लाह अपना देवता मानते हैं। महाभारत के वन पर्व में नलोपाख्यान के अन्तर्गत एक बड़े सार्थ या व्यापारिक काफिले के वेत्रवती नदी पार करने का वर्णन है; वहाँ कहा गया है कि उस सार्थ का ज्येष्ठ सार्थवाह और अन्य व्यापारी माणिभद्र यक्ष के भक्त थे।

आरम्भ में यक्षों के थान और अन्य देवों के थान खुले आकाश के नीचे होते थे। ये खुले थान चारदिवारी से भी घेर दिए जाते थे। इन थानों पर मूर्ति की प्रतिष्ठा नहीं होती थी किन्तु प्रतीक के रूपों में मिट्टी या ईंट का केवल एक थूहा बनाया जाता था। कुछ काल बाद यक्षों की विशालकाय मूर्तियाँ भी बनने लगीं और उसी परम्परा में आगे चलकर विष्णु, शिव और बुद्ध की मूर्तियाँ भी रची गईं लेकिन फिर भी जो थान की पूजा-विधि थी वह भी दो सहस्र वर्षों तक चालू रही।

आजकल लोक में पञ्चपीरों की पूजा कहीं कहीं प्रचलित है। वस्तुतः मुसलमानी प्रभाव से प्राचीन पञ्चवीर शब्द का ही रूप बदलकर पञ्चपीर हो गया। वैश्रवण, माणिभद्र, पूर्णभद्र आदि अनेक यक्ष प्राचीन काल में प्रसिद्ध थे, उनकी नामावली महाभारत के सभापर्व के अन्तर्गत कुबेर की सभा के वर्णन में, और बौद्धग्रन्थ दीघनिकाय के आटानाटीय सुत्तन्त में पाई जाती है। स्वाभाविक है कि उस समय जो बहुत से यक्षों की मान्यता थी, उसमें कुछ प्रधान रूप से उतरा आए हों और इसी आधार से पञ्चवीर यह शब्द लोक में प्रचलित हुआ हो। मथुरा के प्रथम शती पूर्व के एक शिलालेख में "वृष्णीनां पञ्च वीराणां" अर्थात् वृष्णियों के पञ्च-वीरों का उल्लेख है। लोक में जो पञ्चवीरों या पाँच यक्षों की पूजा प्रचलित थी, उसी के ढंग पर वृष्णियों के भी पाँच नायक वीरों को चुनकर वृष्णि पञ्चवीर यह संज्ञा दी गई। दशकुमार चरित में एक स्थान पर पञ्चवीर गोष्ठ का उल्लेख है। टीकाकार के अनुसार देहाती मंडली या जमावड़े के लिये 'पञ्चवीर गोष्ठ शब्द' प्रचलित था [तत्पञ्च वीर गोष्ठन्तु यत्तु जानपदं सदा] पञ्चवीर में जो वीर शब्द है वह यक्षवाची है। पाँच यक्षों के थान की संज्ञा पञ्चवीर हुई और वहाँ जो गोठ जमती थी वह पञ्चवीर गोष्ठ कहलाई। वीर = पीर इस समीकरण को स्वीकार कर लेने से प्राचीन धार्मिक इतिहास के बहुत से भूले हुए सूत्र लगने लगते हैं। श्री पं हजारीप्रसाद जी द्विवेदी और श्री पं० सुखलाल जी संघवी दोनों विद्वानों ने इस पहिचान को स्वीकार किया। द्विवेदीजी के अनुसार चूलिका पैशाची या पंजाबी में वीर का पीर उच्चारण बहुत सम्भाव्य है। मुसलमान पंजाब की तरफ से आते हुए यह उच्चारण अपने साथ पूर्व की ओर लेते गए। श्री डा० पी. एल. वैद्य से ज्ञात हुआ कि महाराष्ट्र में भी वीर पूजा प्रचलित है। दर्शन के अध्यापक श्री हरिदास भट्टाचार्य ने बतलाया कि बंगाल में वीर पूजा बहुत अधिक पाई जाती है। मानिक पीर का उल्लेख ऊपर आ चुका है। इसी प्रकार सत्य पीर की पूजा भी चालू है। हमारे सहयोगी श्री अवध-किशोर नारायण ने बताया कि मगही क्षेत्र (गया जिले) में गाँव गाँव में बरह्म-थान या चबूतरे होते हैं। आजकल वहाँ पूजा होती है। प्रायः उनके पास एक-एक वृक्ष होता है। गाँव में प्रवेश करने के स्थान के पास ही बरह्म-देव का स्थान बनाया जाता है। बरह्म-देव के बहुत से

पूजा-गीत भी वहाँ पर हैं। बलिया की तरफ बीरों के पूजा स्थान या बरह्म-थान को केवल 'अस्थान' कहते हैं।

४-५-५२ को प्रातःकाल भ्रमण करते हुए विश्वविद्यालय में ही यक्ष-पूजा सम्बन्धी अनमोल नई जानकारी प्राप्त हुई। मार्ग में एक गाँववाला मिला जो सिर पर साढ़े सात पसेरी कुम्हड़ों का झौआ उठाए सट्टी जा रहा था। एक जगह बीर का थान आया तो मैंने पूछा कि यह क्या है? उसने कहा कि मन्दिर है। मैंने पूछा कि इसके अन्दर क्या है, तो कहा कि डीह है। मैंने कहा—"क्या यह थान है?" उसने कहा—"हाँ, अस्थान है।" पहिली बार मन्दिर कहते हुए उसने नई शब्दावली का प्रयोग किया था, पर अब वह अपनी शब्दावली पर आ गया था, क्योंकि उसने मुझे भी शुद्ध करके थान न कहकर 'अस्थान' ही कहा। मैंने फिर पूछा—इस डीह का नाम क्या है? अब वह और भी अधिक अपने गाँव की मनोभूमि में आ गया था। मैंने पूछा यही अकेला बीर है या और भी हैं, उसने कहा—बहुत हैं, जैसे कर्मन बीर, कोट माई। मैंने पूछा, कर्मनबीर कहाँ है? बोला, वहीं ऊख के खेत के पास। मैंने इस जगह को सन् १६२५ में विश्वविद्यालय में पढ़ते समय देखा था। जब हम बहुत से छात्र अपना घुमक्कड़ी शिक्षा दल बनाकर खेतों में निकल जाते थे, तब मैंने इसे शिव मन्दिर समझ कर सन्तोष कर लिया था। उसके बाद पुनः अबकी बार विश्वविद्यालय में लौटकर प्रातःकाल के लम्बे चक्करों में प्रायः अंतरे खोंतरे उस स्थान के पास से निकलता था, पर उसे शिव का मन्दिर ही समझता रहा। अब जान पड़ा कि यह कर्मनबीर कोई यक्ष हैं जो सम्भवतः हजारों वर्षों से आसन मारे बैठे हैं। लोग आए और गए, आसमान घूमता गया, पर कर्मनबीर टस से मस न हुए। वैसे ही भक्तों का पुजापा लेते रहे हैं। चाहे जितने धर्म सुधार हो जायँ, मार्कण्डेय की तरह उनकी लम्बी आयु के लिये भविष्य में भी मुझे कुछ खुटका नहीं दीखता। कुम्हड़ेवाला साथ-साथ चला आ रहा था। मैंने पूछा क्या मानिकबीर भी कोई है? उसने कहा कि हाँ, मानिकबीर भी है। जब बढ़िया या मारी आती है तब उसकी पूजा होती है। यह मानिकबीर किसी समय मुख्य देवता था जो यक्षों के प्रधान माणिभद्र यक्ष का बचा-खुचा रूप है। ग्वालियर के पास पवाया (पद्मावती) के लेख में माणिभद्र के भक्तों ने कहा है कि वे लोग गर्भ सुखित मनोवृत्ति से अपनी गोष्ठी में माणिभद्र की पूजा करते थे। 'अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम' की फक्कड़ मनोवृत्ति के लिये पाणिनि के 'पात्रे समितादयः' सूत्र में (२-१-४८) गर्भेतृप्त, गेहेतृप्त आदि फड़कते हुए शब्द दिए हैं। इन्हीं का सगोती यह गर्भसुखित शब्द था। माणिभद्र यक्ष के पुजारी इसी मनोवृत्ति के भक्त थे। वस्तुतः प्राचीनतम काल में एक मङ्गलमणि या भद्रमणि की पूजा प्रचलित थी जिसे महाभारत में युधिष्ठिर के कोष में दिव्यमणि कहा गया है। उस मणि की कृपा से अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती थीं, उनका विस्तृत उल्लेख पूर्णक यक्ष की जातक कहानी में आया है। उसी प्रकार की मंगलप्रद मणि का अधिष्ठातृ देवता माणिभद्र यक्ष प्रतीत होता है। उसके भक्तों में गर्भ-सुखित निश्चिन्त वृत्ति का होना स्वाभाविक था।

लोक-संस्कृति सचमुच जयशालिनी है। उसकी गोद में अमृत है। कोई संस्था, विश्वास या नाम यहाँ मरता हुआ नहीं दीखता। सब लोक की प्राणधारा के प्रवाह में बहते रहते हैं।

मैंने उसी व्यक्ति से कहा—भाई कर्मन बीर तो मैंने देखा है, कोट माई कहाँ हैं ? उसने एक ऊँचे टीले की ओर इशारा करते हुए मार्ग बता दिया और कहा कि ये कोट माई बड़ी ही जगता माई हैं अर्थात् बहुत चमत्कार युक्त हैं। सचमुच कोट माई का चमत्कार मेरे ध्यान में आ गया। कोट माई प्राचीन कोट्टवी या कोटवी देवी है, जिसका अम्बिका के रूप में तमिल देश में कभी प्रचार था। कोट्टवै दक्षिण देश की सबसे बड़ी देवी थी। बाण ने हर्ष चरित में उसे कोटवी कहा है। ज्ञात होता है दक्षिण की कोट्टवै महानग्नी मातृ देवी थीं, जिसे अंग्रेजी में ग्रेट गोडेस या मेग्ना माटेर कहा जाता है। क्या अनुमान हो सकता था कि दक्षिण की कोट्टवै कोट माई के रूप में विश्वविद्यालय के ही एक टीले पर प्रतिष्ठापित मिलेंगी ? किन्तु यही इस देश की लोकवार्ता की शाश्वत विजय है। यहाँ प्रत्येक संस्था चिरंजीवी है। हिमालय के अलमोड़ा जिले में लोहाघाट से १२ मील की दूरी पर कोटलगढ़ स्थान है। वहाँ की किंवदन्ती है, कि यह कोट्टवी का गढ़ था। कोट्टवी बाणासुर की माता थी। उसका आधा शरीर कवच से ढका हुआ और नीचे का आधा नंगा माना जाता है। कथा है कि एक बार महाबलि के पुत्र बाणासुर दैत्य का विष्णु से युद्ध हुआ। जितने असुर मारे जाते उनसे अधिक उत्पन्न हो जाते। तब देवों के प्रयत्न से महाकाली का जन्म हुआ। उसने असुरों का और कोट्टवी का वध किया। कोटलगढ़ का अर्थ है—नंगी स्त्री का गढ़ या वासस्थान। (अमृत बाजार पत्रिका, १९ मई १९५२, हिल सप्लीमेंट, पृष्ठ ३) । इस सूचना से यह परिणाम निकलता है कि दक्षिण की कोट्टवै की पूजा हिमालय पर्वत के अभ्यन्तर तक में प्रचलित थी। लोक में इसके और भी व्यापक प्रमाण मिलने चाहिए।

६-५-५२ को प्रातः भ्रमण के समय कर्मनबीर के पास पहुँचने पर सामने गाँव से आते हुए दो आदमी दिखाई दिए। उन्होंने बीर के दर्शन किए। उनसे बात चलाई, यह क्या है ? बोले कर्मनबीर का स्थान है। वहीं बीर के स्थान के आगे एक चबूतरा था। मैंने पूछा, क्या यह भी बीर का स्थान है ? उन्होंने कहा, नहीं। यह अखाड़ा है। मैंने पूछा, और भी क्या आसपास कोई बीर है ? उन्होंने कहा, हाँ हमारे गाँव टिकारी में खोराबीर हैं, और देवी विन्ध्या माई हैं। बातचीत का सिलसिला जारी रखते हुए मैंने पूछा— बीर और शिवलिंग में क्या अन्तर है ? उनमें से एक व्यक्ति का इस विषय में बिल्कुल स्पष्ट मत था। उसने बताया कि हर गाँव में एक बीर और एक देवी का होना जरूरी है। बीर और देवी का मन्दिर अलग-अलग होता है। शिव का मन्दिर हर गाँव में हो, यह जरूरी नहीं। दस-पाँच गाँव में एक शिवलिंग का मन्दिर रहता है, लेकिन ठाकुरों की तरह बीर हर गाँव में होता है। कहा है—

"गाँव गाँव का ठाकुर,
गाँव गाँव का बीर"।

शिवलिंग और बीर में दूसरा भेद यह है कि शिव की पिण्डी छोटी और ऊपर से गोल होती है लेकिन बीर का थूहा बड़ा और नोकदार होता है। विश्वविद्यालय में कर्मनबीर दो हैं। दूसरे कर्मनबीर का थूहा ५ फीट ऊँचा और नीचे के पेटे में ७॥ फुट है। ऊपर की ओर वह नुकीला उठा हुआ है। यह यहाँ के सब बीरों में ऊँची मूर्ति है। तीसरा भेद यह है कि

शिव के मन्दिर में गणेश, पार्वती आदि और भी मूर्तियाँ हो सकती हैं, लेकिन बीर के अस्थान पर बीर के अलावा और किसी देवता की मूर्ति नहीं रहती। उसकी इस व्याख्या से पहिली ही बार मुझे ग्राम देवता के रूप में बीर की ठीक स्थिति, परम्परा और महत्व का पता चला और मेरे मन में यह बात साफ हो गई कि बीर पूजा की धार्मिक तह और शिव पूजा की तह दोनों अलग अलग हैं। लोक में पहले बीर-पूजा छाई हुई थी, उसके ऊपर शिव पूजा का खोल चढ़ा।

इसी दिन सायंकाल के समय हमारे यहाँ काम करनेवाले पं० तिलक धर ने लंका पर सुना कि काशी में एक डौंड़िया बीर और एक बुल्ला बीर हैं। पंडित जी के यह कहने पर कि बुल्ला बीर तो विश्वविद्यालय में है, उसने उत्तर दिया कि असी के इस पार के बीर असली हैं, उसके बाहर के नकली हैं। उसकी यह बात जो लोक परम्परा में चली आई है ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इससे मत्स्य पुराण की उस अनुश्रुति का समर्थन होता है, जिसमें कहा है, कि काशी में पहले यक्ष-पूजा प्रचलित थी, बाद में यहाँ शिव-पूजा का अड्डा जमा। जब शिव के भक्तों ने काशी पर अधिकार कर लिया तब काशी के यक्ष काशी के बाहर चले गए। लिखा है कि किसी समय शिव के भक्तों में जो काशी में बाहर से आए थे और यक्ष के अनुयायियों में जो पहिले थे, झगड़ा उठा। इस झगड़े में शिव ने बीच-बिचाव किया और निर्णय दिया कि शिव के गण काशी में रहें और यक्ष काशी छोड़कर बाहर चले जायँ। तब यक्ष भक्तों ने अपने अस्थान बाहर बना लिए, पर जो अस्थान काशी में बने हुए थे उन्हें उखाड़नां सम्भव नहीं था, अतः वे भी बचे रह गए और काशी में आजतक लोक में यह बात चली आई कि जो काशी से बाहर के बीर हैं वे असली नहीं। असली तो काशी की सीमा में रहनेवाले बीर ही हैं। लहुरा बीर, बुल्ला बीर, डौंड़िया बीर उसी परम्परा के प्रतिनिधि हैं। विश्वविद्यालय के बाहर पंचक्रोशी के हनुमान मन्दिर के पास दैतराबीर का मन्दिर है। यह बीर अवश्य ही किसी दैत्य या क्रूर यक्ष का प्रतिनिधि होना चाहिए। श्री परमेश्वरीलाल जी से ज्ञात हुआ कि चेतगंज में भी दैतरा बाबा का थान है। इसका आशय यह है, कि जितने बीर काशी में हैं, उतने ही बीर काशी के बाहर भी होने चाहिएँ। काशी से बाहर यक्ष पूजा का सबसे बड़ा स्थान हरसू बरह्म है, जो प्राचीन हरि-केशव यक्ष का ही प्रतिनिधि जान पड़ता है। उसे आज तक राष्ट्रपति माना जाता है। 'टिकारी गाँव में जिस खोरा बीर का नाम गाँववाले ने उस दिन बताया था उसका कुछ आभास शान्ति पर्व (८-३।५३) के खोरक नाम में मिलता है—'खोरकः सौरभेयाणाम्' अर्थात् शिव का जो क्रोध ज्वर के रूपमें प्रकट हुआ वह था नाना रूप धारी होकर चारों ओर फैल गया। बैलों में वही खोरक कहलाया। खोरक रोग का नाम और लोक में वही बीर का नाम है। विश्वविद्यालय से नगर को जानेवाले मार्ग पर दहिनी ओर बीर का नाम बरह्म बीर है। इस नाम में यक्ष वाची प्राचीन ब्रह्म शब्द सुरक्षित रह गया है। काशी के बीरों की सूची में डौंड़िया बीर ध्यान देने योग्य हैं। प्राचीन लिच्छवियों की राजधानी वैशाली के बाहर घंटा यक्ष का चैत्य था। किसी बाहरी व्यक्ति के अनधिकृत या चोरी से नगर प्रवेश करने पर वह यक्ष घंटा बजाकर लिच्छवियों को सावधान कर देता था। काशी की प्राचीन सीमा पर कुछ ऐसा ही कार्य इस डौंड़िया बीर का था। बहुत से बीरों के नाम मनुष्यों के नामों

पर है। वस्तुतः वैदिक देव और लोक के बीरों में यही अन्तर था कि यक्ष पुरुषप्रकृतिक देव थे, अर्थात् उनके पीछे असली प्रकृति या आदर्श मनुष्य का था। वायु पुराण में वृष्णि पंचवीरों को पुरुष प्रकृतिक देव कहा गया है। अपनी बुद्ध गया की यात्रा में मुझे ज्ञात हुआ कि वहाँ बोध गया के पास ही बरह्म बीर का थान है। और भी मगध के गाँव गाँव में बरह्म के थान हैं, जिनकी पूजा और मान्यता कभी भी जारी है[1]।

बीर बरह्म की पूजा का क्षेत्र आज भी बंगाल से राजस्थान, महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश तक फैला हुआ है। इसके प्रमाण पूछताछ करने पर मित्रों से मिलते गए। यदि हम लोकवार्ता साहित्य के अध्ययन को वैज्ञानिक पद्धति पर संगठित कर सकें तो इस विषय में सुस्पष्ट और निश्चित जानकारी की सम्भावना है जिसके द्वारा इस सामग्री को प्राचीन यक्ष-पूजा की परम्परा के साथ जोड़ना और भी अधिक सम्भव हो सकेगा। यहीं विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के प्राध्यापक श्री मेनन द्वारा यह जानकर प्रसन्नता हुई कि केरल और तामिलनाड में भी प्राचीन यक्ष और यक्षियों की पूजा की प्राच्य परम्परा अभीतक विद्यमान है और प्रायः वह हरेक गाँव में फैली हुई है। इस सम्बन्ध की सामग्री का संकलन दक्षिण भारत के जनपदीय कार्यकर्ताओं को करना चाहिए। जनपद के द्वितीय अंक में प्रकाशित 'गाहा पल्हाया' शीर्षक लेख में हम लिख चुके हैं कि यक्ष-पूजा के साथ यक्ष प्रश्न—यक्षों से प्रश्न पूछने की प्रथा भी थी जिसे प्रश्न-व्याकरण भी कहते थे। आज भी यक्ष या बीर जब किसी के सिर पर आ जाता है तो चट चारों ओर से प्रश्नों की झड़ी लग जाती है। बता, तू कौन है, कहाँ से आया है, और भी लोग जो-जो चाहते हैं, पूछते हैं। यक्ष-पूजा और मान्यता का यह आवश्यक अंग था। महाभारत में युधिष्ठिर और यक्ष के संवाद रूप में जो प्रश्नोत्तरी दी हुई है उसमें यक्ष पूछनेवाला है और धर्म के प्रतिनिधि युधिष्ठिर उत्तर देनेवाले हैं। लेकिन लोग पूछें, यक्ष उत्तर दें, वह भी एक परम्परा थी जो वैदिक काल तक पाई जाती है। महाभारतकी यक्ष प्रश्नोत्तरी लोक साहित्य का अभिन्न अंग थी। वहीं से वेदव्यास ने उसका संकलन किया था। यजुर्वेदके ब्रह्मोद्य प्रकरण में होता और राजमहिषी के रूप में जो प्रश्नोत्तर दिए हुए हैं। उनमें से कुछ वही हैं, जिन्हें व्यासजी ने यक्ष युधिष्ठिर प्रश्नोत्तरी में स्थान दिया है। वैदिक साहित्य के साथ लोक साहित्य के मेलका यह विलक्षण उदाहरण है। यह आश्चर्य तब और भी बढ़ जाता है जब हम देखते हैं कि कुरु जनपद के लोक साहित्य की परम्परा में जिसे मल्हार या गाहा और पल्हाया कहा जाता है, उसमें भी यक्ष प्रश्नों से मिलते-जुलते बोल पाए जाते हैं।

'ए जी कौन जगत में एक है, ए जी कौन जगत में जागता ?' इस प्रश्न के उत्तर में,
'ए जी राम जगत में एक है, ए जी धर्म जगत में जागता।'

महाभारत और यजुर्वेद में इसी प्रश्न को यों पूछा गया है—

१—इस सूचना के लिये मैं निर्माण-विभाग विश्राम गृह के चौकीदार श्री रामऔतार का अनुगृहीत हूँ।

'किं स्विदेकाकी चरति किं स्विदाजायते पुनः।'

'सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।'

यदि यक्षों के गीत, वीर पूजा के गीत औ रशिलोगों का पर्याप्त रूप में संग्रह किया जाय तो आशा है उनके अध्ययन से और भी प्राचीन साहित्यक अभिप्राय खुलेंगे।

श्री डा० आनन्दकुमार स्वामी ने सर्वप्रथम यक्ष पूजा की व्यापकता पर प्रामाणिक ढंग से ध्यान दिलाया था। बौद्ध, जैन और ब्राह्मण साहित्य में इस सम्बन्ध की जो सामग्री है, उसके आधार पर उन्होंने यक्ष नामक ग्रन्थ लिखा, जिसका पहला भाग वाशिंगटन के स्मिथसोमियन इन्स्टीट्यूशन से १९२८ में और दूसरा १९३१ में प्रकाशित हुआ। उससे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में बड़े-बड़े नगरों के पास प्रसिद्ध यक्ष-मन्दिर थे, जैसे कपिलवस्तु में शाक्य वर्धन यक्ष का मन्दिर था, जहाँ बालक सिद्धार्थ के माता-पिता बच्चे को लेकर पूजा के लिये गए थे। वैशाली के बाहर विशाल नामक यक्ष का मन्दिर था। पाटलिपुत्र में पुरगान ामक यक्षी का मन्दिर था। गया में शुचिलोम यक्ष का मन्दिर था। आज भी लोक में इन स्थानों के लिये 'भौन' शब्द प्रचलित है। जैन ग्रन्थ सूर्य प्रज्ञप्ति के अनुसार मिथिला नगरी से बाहर मणिभद्र नामक जक्ख का चैत्य था। औपपातिक सूत्र के अनुसार चम्पा (वर्तमान भागलपुर) के पास पूर्णभद्र यक्ष का मन्दिर था जिसमें पूजा के लिये अमीर गरीब सब इकट्ठे होते और छत्र, ध्वजा, घण्टी-घण्टे, मोरछल, चन्दन, पूर्णघट, सुगन्ध, लाल चन्दन, पुष्प आदि से धूमधाम की पूजा होती थी। वहीं मेले में नट, कला करनेवाले, गाजे-बाजेवाले, तमाशेवाले, पहलवान, कथक्कड़, पवाड़ा गानेवाले, भांति-भांति के लोगों का मेला लगता था। इस तरह के उत्सव को यात्रा कहते थे। उसी का वर्तमान हिन्दी रूप जात (प्राकृतिक जत्त) अभी तक बच गया हैं। लोक में चाहे अन्य कोई वस्तु सुरक्षित रहे या न रहे, मेले और उत्सव बराबर जीवित रहते हैं। कालान्तर के प्रभाव से उनके स्वरूप में कुछ हेर फेर हो जाता है। हमारा अनुमान है कि नागों और यक्षों और देवियों के जो मेले प्राचीन काल में लगते थे और जो प्रसिद्ध प्रसिद्ध-स्थान विविध जनपदों में थे, वे आज भी किसी न किसी रूप में वहाँ मिलने चाहिए। उदाहरण के लिये महाभारत में राजगृह के पास मणिनाग नामक नाग के चैत्य का उल्लेख आया है। मणियार मठ के नाम से राजगृह में आज तक सर्प पूजा की वह परम्परा चली आती है। भरतपुर से तीन मील दूर पर नोह गाँव के एक टीले के पास मौर्यकालीन महाकाय यक्ष मूर्ति की प्राप्ति हमें ९३३ में हुई थी, उसे तब तक गाँववाले जखैया के नाम से पूजते थे। आज तक भी वह मूर्ति वहाँ पुजन्त में है। भारतीय लोक जीवन को कहीं पर भी खुर्च कर देखा जाय तो उसके नीचे प्राचीनता के बहुत से पर्त्त निकलने लगते हैं। समाज किसी भी संस्था या पूजा-पद्धति के विष में सशंक नहीं होता किसी का बलपूर्वक निराकरण नहीं करता। प्रत्येक धार्मिक संस्था अपने रस जीवित रहती है और अपने रस घटती बढ़ती या रूप बदलती हुई दूसरी संस्थाओं में घुल मिल जाती है। असम प्रान्त से जहाँ प्राचीन भू-देवी की पूजा कामाख्या के नाम से प्रचलित है,य काठियावाड़, आन्ध्र और केरल तक निषाद, शबर, मुण्डा, किरात, द्रविड़, आर्य आद अनेक धार्मिक निष्ठाएँ प्रचलित रही हैं, उन्होंने एक दूसरे को प्रभावित किया है। कामाख्या देवीकी पूज

का वर्णन करनेवाले योगिनी तन्त्र में वहाँ के उत्सव को स्पष्ट ही शबरोत्सव कहा गया है, जिसमें जंगली जातियों के शिथिल नैतिक आचार भी प्रचलित थे। उसी ग्रन्थ में स्थानीय धार्मिक मान्यताओंको कैरातज धर्म (योगिनी तन्त्र २-९-९) कहा गया है जो बिल्कुल ठीक है। किरात (अंग्रेजी मौनख्मेर) जातियों का निवास उस प्रदेश में आज तक है,वहाँ उनके धर्म का प्रचार एवं प्रभाव स्वाभाविक था। आर्य संस्कृति ने स्थानीय संस्कृतियों के प्रभाव में आकर उन्हें अनेक भाँति से प्रभावित किया है,और यथासम्भव अपने नैतिक सौरभ से सुवासित किया है। परिणाम स्वरूप स्वयं भी वह उन संस्कृतियों से प्रभावित हुई है। उदाहरणार्थ यक्ष धर्म की जो पूजा-पद्धति थी उसे भागवत धर्म में स्वीकार किया गया। इसे ही गीता में "पत्रं पुष्पं फलं तोयं" द्वारा देव-पूजन कहा गया। प्राचीन यक्ष पूजा में तीन अंग आवश्यक थे। वाद्य, पुष्प और बलि। इनके अंत में प्रसाद वितरण होता था। पूजन की यह विधि यज्ञ विधि से भिन्न थी। जिस प्रकार यक्ष मूर्तियों से विष्णु मूर्तियों का विकास हुआ और पञ्चवीर पूजा से वृष्णि पञ्चवीरों की उत्पत्ति हुई,उसी प्रकार यक्ष-दैत्यों की पूजा-विधि भी भागवतों द्वारा अपना ली गई। उसी का प्रमाण गीता में वर्णित "पत्रं पुष्पं फलं तोयं" है। इनमें से कोई अंग वैदिक यज्ञ विधि में आवश्यक नहीं। देखा जाय तो भागवतों में भी दोनों परम्पराएँ काफी देर तक चलतीं रहीं। परमसंहिता, अहिर्बुध्न्य संहिता आदि प्राचीन पंचरात्र संहिताओं में एक ओर भागवत धर्म के पूजन में वैदिक यज्ञों का भी अनुष्ठान और स्वीकृति है और दूसरी ओर नृत्य, गीत, वादित्र, पत्र, पुष्प, फल बलि आदि के द्वारा लौकिक पूजाविधि मान्य समझी गई और उसका सुविस्तृत उल्लेख किया गया है। इस प्रकार हिन्दू संस्कृति समन्वय के बीज मंत्र को लेकर आगे बढ़ी है। इसी बीजमंत्र से हिन्दू संस्कृति में उस अभयमुद्रा का जन्म हुआ जिसके कारण छोटी और बड़ी, उँची और नीची, सब संस्कृतियां एक परिवार की अंग बनी हुई हैं। गंगा की धारा में भरे हुए बालुका-कणों की भांति यहाँ आपस में सादृश्य और अभेद ही अधिक देखा जाता है और जीवन की संतत परिचालित गति भी उसी; लक्ष्य की ओर बढ़ती हुई चली जाती है।

सोहाग

श्रीमती विद्यावती देवी 'कोकिल'

सुहाग 'सिन्दूरदान' की रीति है, जिसमें कन्या की माँग में सुहागिन स्त्रियाँ सिन्दूर पहनाती हैं। यह रीति विवाह की प्रमुख रीतियों में से एक है। कहते हैं कि सिन्दूर माँग में पड़ते ही कन्या पर सुहाग चढ़ता है और उसके मुख की रौनक ही कुछ और हो जाती है। यह सुहाग क्या है, जिसे पाकर कन्या में इतनी गरिमा आ जाती है? इस सिन्दूरदान के साथ एक इतिहास है और उसके साथ स्मृतियों का सागर लहर जाता है। वह इतिहास स्त्री नहीं जानती, वह तो सृष्टिकर्ता ही देख रहा है। पर वह इतिहास आज भावना की गाँठ सी बनकर इस 'सुहाग' के आनन्द में एकत्र हो गया है। विशेष रूप से सृष्टि की उस महान् विजय का संगीत इसमें गूँजता है, जिस दिन सृष्टि ने अनगिनती जीवन के प्रयोग करने के बाद मानवी स्त्री को बना पाया था। उस दिन सृष्टि में सबसे बड़ी क्रान्ति हुई थी। विवाह उस क्रान्ति की याद में मनाया जानेवाला शुभ दिन है। सुहाग उस आत्माह्लादिनी प्रसन्नता का शुभ चिह्न है। दिनों दिन यह अनुभूति गहरी और विस्तृत होते होते आज 'सुहाग' शब्द में अत्यन्त व्यापक बन गई है। इस सुहाग का अर्थ 'आनन्द' के आस-पास अधिक घूमता है, जो वर और कन्या दोनों ही के लिये मंगलदायक है। यह आनन्द मन और शरीर पर साथ ही रस-वृष्टि करनेवाला है। याद रहे कि यह योगियोंवाला आनन्द नहीं है। यहाँ वैराग्य शर्त बाँधकर नहीं खड़ा होता। और न यह भोगी और विलासियोंवाला ही आनन्द है। यहाँ परलोक की तो कोई अनुभूति निश्चय ही नहीं है। पर यह भोगी के अनुभव से भी परे है। यह प्रकृति की अत्यन्त स्वाभाविक कामना का संकेत है, जिसके लिये ही कदाचित् मनुष्य उत्पन्न किया गया है। इस आनन्द को जो लोग इससे अधिक जड़ या इससे अधिक काल्पनिक बनाते हैं, वे इस आनन्द की अनुभूति को नहीं पाते। दो प्राणियों के मिलन में एक आनन्द होता है। उस आनन्द में एक रहस्य का अनुभव होता है। हम सभी रहस्य के उपासक हैं। ज्ञानी ने उस रहस्य को वेदों और शास्त्रों में बखाना, वैज्ञानिकों ने बिजली, अणु-शक्ति तथा अन्य अन्वेषणों द्वारा उसका उद्घाटन करके हृदय को सन्तोष दिया। स्त्री स्वभाव तथा कर्तव्यों के भार से सदा ही व्यावहारिक अधिक और काल्पनिक कम रही है, रागात्मक अधिक और बौद्धिक कम रही है। अपने इसी स्वभाव के कारण उसने उस रहस्य को सुहाग में अमरता का बाना पहना कर सर्वसुलभ और व्यावहारिक बना दिया है। इस अनुभूति को जिन गीतों में गाया जाता है उन्हें 'सुहाग' कहते हैं। ऐसे आनन्द के समय यदि क्षण भर को यही प्रार्थना की जाती है कि चन्द्रमा तुम उगो और सूरज तुम थोड़ी देर ठहरे रहो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं—

(१)

आजु सोहाग कै राति चंदा तुम उगिहौ,
आज नवेली की रात चंदा तुम उगिहौ,

चंदा तुम उगिहौ सुरुज मति उगिहौ,
आजु रंगीली कै राति चंदा तुम उगिहो। आजु, सु०।
वेदिया पर उगिहौ मड़ए पर उगिहौ,
मँगिया पर उगिहौ तिलके पर उगिहौ। आजु, सु०।
जामा पर उगिहौ जोड़ा पर उगिहौ,
मौरा पर उगिहौ मौरी पर उगिहो। आजु, सु०।
घोड़े पर उगिहौ बाखड़ पर उगिहौ,
डोला पर उगिहौ परदा पर उगिहौ। आजु, सु०।
दुलहा पर उगिहौ दुलहिन पर उगिहौ,
आजु सुहाग कै राति चंदा तुम उगिहौ। आजु, सु०।

यह हमारे सामाजिक इतिहास के अध्ययन का विषय है कि मंडप, वेदी, फिर जामा-जोड़ा और मौरा-मौरी किस प्रकार इन शुभ अवसरों पर व्यवहृत होने लगे। आगे चलकर हमारे इतिहास में मुगल काल में घोड़ा, सेहरा इत्यादि ने कैसे यह रूप ग्रहण किया, यह सब बातें तो अमुक अमुक समय की सामाजिक, आर्थिक और कलात्मक परिस्थितियों तथा मानसिक विकास के अध्ययन से ही विदित हो सकती हैं।

सर्वप्रथम कन्या सुहाग माँगने पार्वती के पास जाती है। पार्वती का सोहाग अमर माना जाता है। कहीं कहीं की रीति है कि सोहाग धोबिन देती है। पार्वती के पातिव्रत की कथाओं से पुराण भरे पड़े हैं, तो इस धोबिन की भी कथाएँ हैं। एक बार कोई तरुणी स्त्री श्मशान में अपने पति की लाश पर सिर पटककर रोती आई; इस धोबिन ने उसे देखकर पूछा कि 'अरे इस बारी उम्र में ही तेरा सब कुछ उजड़ गया!' तरुणी उससे बोली—"हाँ मइया, तुम्हीं कुछ करो तो मैं तुम्हारी आजन्म दासी बनकर रहूँगी।" ऐसा कहकर उसके पैरों पर गिर पड़ी। धोबिन ने आदेश दिया कि "उठ और इधर देख" इतना कहकर वह उस तरुणी की माँग से अपनी माँग रगड़ने लगी। ज्यों ज्यों उस सतवन्ती ने अपनी माँग रगड़ी उसके पति का प्राण लौटने लगा। थोड़ी देर में वह उठकर बैठ गया। इस प्रकार उस सतवन्ती धोबिन का सुहाग भी अमर माना जाने लगा। और अब वह तो भला कहाँ मिले धोबिन मात्र सुहाग देने लगी है। इस कथा में क्या सत्यता है हम नहीं जानते पर यह तो सच है कि पातिव्रत का इतना आदर था कि भले ही वह देवता की स्त्री हो या शूद्र की, वह पूज्य थी। धोबिन भी पार्वती की पंक्ति में आती है। धोबिन क्या उसका सतीत्व। जो अमरता या तो देवताओं की वस्तु थी या कवि कल्पना की उसे ही इस भारतीय स्त्री ने अपने तप से व्यवहार की तथा लौकिक वस्तु बना दिया।

यथार्थ में 'सुहाग' एक धारा है जो संसार के बीच में बह रही है, जिसमें कोई भी अपना पात्र भर सकता है, पर पतिव्रता का ही पात्र उस धार में से जल लेकर लौट आता है और सबके डूब जाते हैं।

हम यहाँ पर कुछ पार्वती तथा धोबिन सम्बन्धी सुहाग गीत देते हैं। सुहाग के सभी गीतों में आपको एक ऐसा रस मिलेगा जो विवाह भर के किसी गीत में नहीं मिलता। इन गीतों में एक पूर्ण सम्पन्नता का भाव है। इन गीतों में थके हुए व्यक्ति के जैसा सन्तोष है। इतना भरापुरापन हमें जीवन के बहुत कम क्षणों में मिलता है। सर्वप्रथम कुछ पार्वती के सुहाग सम्बन्धी गीत दिए जाते हैं—

(२)

मैंना जानू रे सोहाग होने लागा।
गई हैं दुलरैतिन बेटी पारबती पासा॥
पारबती का सुहाग मेरी बारी भोली लागा।
मेरी राज दुलारी लागा।
मेरी चंद्रबदनिया लागा। रे सोहाग।
पारबती का सोहाग मेरी बारी भोली लागा।
अतर गुलाबी होइकै लागा।
गढ़ कस्तूरी होइकै लागा।
चोवा चंदन होइकै लागा। रे सुहाग।
पारबती का सुहाग मेरी बारी भोली लागा।
पाँव मेहाउर होइकै लागा।
हाथ मैंहदिया होइकै लागा।
मांगि में सेंदुर होइकै लागा। रे सुहाग होने लागा।

(३)

हाँथ डेलरिया फुलन केरी कलियाँ,
अब कहाँ चललिउ कवन लाल धेरिया,
सुहाग माँगन साँई चली।
हम तौ चलली सदाशिव टोलवा, महादेव टोलवा,
देहु न गौरा रानी अपना सोहगवा,
सुहाग माँगन साँई चली।
बोली हैं गौरा रानी रूठि रूठि बोल,
हम नाहीं देबैं स्वामी अपना सोहगवा,
सुहाग माँगन साँई चली।

औरे का देतिउँ मैं पात पुरिया लाइ,

अपनी दुलारी बेटी बैला लदाय, लढ़िया लदाय,

सुहाग माँगन साँई चली।

(४)

महादेव अँगने सोहाग का बिरवा,

धोबियराय अँगने सोहाग का बिरवा,

तहँवा दुलरैतिन बेटी ठाढ़ी।

सोहागवा सोहागवा कै आगरी गौरा कुँवरि देई,

अरे उनसे बेटी माँग लेउ। महादेव अँगने।

इन गीतों में गाते समय पार्वती व धोबिन इत्यादि के नाम के बाद तब आजी, माँ और चाची के नामों को लेकर पूरी कड़ियाँ दोहराई जाती हैं। इस प्रकार ये गाने काफी लम्बे हो जाते हैं। सुहाग गीत का प्रत्येक गीत विभिन्न ध्वनियों से गाया जाता है। कहते हैं कि संगीत हमें आनन्द की जिस सीमा तक ले जाता है, वहाँ तक कोई कला नहीं ले जा पाती इसमें कुछ सत्य अवश्य है। सुहाग गीतों के गाने में ही कुछ ऐसा जादू है, जो अपने सीधे सरल स्वरों से ही एक असाधारण आनन्द बहा देता है। असाधारण यह आनन्द इसलिए नहीं है कि वह अलौकिक या दैवी है अपितु इसलिए कि घोर लौकिक है। प्रकृति के इतना निकट है कि मनुष्य की प्रकृति स्वयं अपने हृदय से ही उन्हें उद्भूत पाती है। हमने देखा है कि कैसे भी मन के उद्गार हों नागरिक संगीत द्वारा व्यक्त करने में सामूहिक रूप से हम एक दम असफल रहते हैं। चाहे विवाह हों चाहे जन्मदिवस शास्त्रीय संगीत वाला वे ही राग भैरवी, पीलू और ठुमरी अलापेगा। न नागरिक कवि ने उपर्युक्त कविता दी जो सामूहिक रूप से गाई जा सकें न संगीतकार ने सामूहिक रूप से गानेवाला स्वर। एक व्यक्ति अपने भावों, तरह तरह के स्वरों, ध्वनियों और मूर्छनाओं में भले ही व्यक्त कर ले, सामूहिक रूप से भी तो अपने उत्साह और प्रसन्नता का प्रकट करना सामूहिक उत्सवों और संस्कारों में परम आवश्यक है। एकान्त में बैठ कर एक व्यक्ति का संगीत सुनने में मधुर लगता है। पर सामूहिक उत्सवों पर वह स्वाभाविक नहीं लगता। इन लोकगीतों में सामूहिक शक्ति बहुत निहित है। दूसरे इनके स्वर प्रत्येक अवसर पर भावों के अनुसार ही बँधे हैं और कविता भी स्वरों के ही अनुरूप है।

नागरिक संगीत और कविता को अपनी प्रेरणा का स्रोत ढूँढना पड़ता है, पर इन गीतों में स्वर और संगीत उसी प्रकार फूट पड़े हैं, जैसे आँखों में आँसू फूट पड़ते हैं, जैसे हँसी फूट पड़ती है, जैसे एक पल में उदासी छा जाती है। देखिए महादेव के आँगन में सुहाग की याचना करने के बाद कन्या आजा, बाबा, व चाचा के दरबार में जाती है—

(५)

हाथ सिंधोर लिहे कोछवा माँ दूबधान

चली हैं दुलरैतिन बेटी बाबा दरबार हे।

सूतल रहेलें बाबा उठलें चिहाय
कवन संजोगवा बेटी आइउ दरबार हे।
अरब न माँगौ बाबा दरब न माँगौ
इक मैं माँगौ बाबा आजी क सोहगवा।
देहु दुलरैतिन आजी दहिन लट झरि
लेहु दुलारी बेटी अँचरा पसारि।
अँचरा कै जोगवा झरिय झुरि जइहैं
मँगिया कै जोगवा अमर अहिवात रे।

इसके बाद इस दूसरे गीत में सुहाग की उपमा एक बारी से दी गई है। जो बढ़ती है, लहलहाती है, फिर काटी जाती है, और उसका खलिहान लगता है, वह माड़ा जाता है, बेटी उसे बैलों से माड़ती है और जब थककर बाबा की जाँघ पर बैठ जाती है तो बाबा कहते हैं लो बेटी अब आँचल फैलाओ और आँचल भर भर कर सोहाग लो। बेटी कुछ और ही कहती है कि आँचल का सुहाग झर जायगा अतः अपने पति से प्रार्थना करती है कि तुम अपने पटुके में ले लो। ऊपर वाले गीत में आँचल से झर जाने के डर से सुहाग उसने अपनी माँग में माँगा था। बस इन गीतों को पढ़े और चुप रहे। इनकी न तो प्रशंसा करना अच्छा लगता है न इन पर टीका-टिप्पणी।

(६)

केन मोरे लाबा है सोहगवा कै बारी रे
केन रे सिंचावैं केन देहँ जूड़ पानी रे।
बाबा मोरे लावा है सोहगवा के बारी रे
भइया रे सिंचावैं भौजी देहिं जुड़ पानी रे
बाढ़ा है सोहाग बाबा हालर देइ रे
काटि काटि बाबा मोरे धरैं खरिहान रे
बरहा बयल बाबा दँवरी नँधावैं रे
हँकई कवन बेटी मन चितलाई रे
हँकत हँकत बेटी गई कुम्हिलाई रे
लिहिन कवन बाबा जाँघ बैठाई रे
झिन मोरा अँचरा सोहाग झरै लागा रे
लेहु न ससुर पूत पटुका पसारि रे।

सुहाग से स्त्री के जीवन का आँचल उसी प्रकार भरा पूरा रहता है, जैसे बरसात से प्रकृति का आँचल। ऐसी अपूर्व सम्पन्नता जीवन में और कहाँ मिलती है।

स्त्री सचमुच में एक लता है। उसे आधार का एक वृक्ष चाहिए और इस सोहाग से विशद, विस्तृत और छायाप्रद कल्पवृक्ष और कहाँ मिलेगा। यथार्थ में तो वह छाया स्वयं उसकी श्रद्धा और विश्वास की गढ़ी हुई है। पर इसमें भावना कितनी कवित्वपूर्ण है। नीचे के सोहाग में भरेपुरेपन का कितना सुन्दर चित्र है।

(७)

सोहाग सोहाग बखानिए
सहाग की नन्हीं नन्हीं बूँदिया
सोहाग अँगनवन झिरि चले
सोहाग अँचरवन भरि चले
सोहाग बदरिया ऊमड़ी
सोहाग ओरउतिन चुइ चले
सोहाग पनरवन बहि चले
सोहाग की बैलन लदि चले
सोहाग कि लढ़ियन लदि चले।
सोहाग मटकवन भरि चले।।
सोहाग सोहाग बखानिए'।

आज कल इन गीतों के गाने की प्रथा तो उठती जा रही है पर इनके स्थान पर गाए जानेवाले गीतों से हमें संतोष नहीं होता। जितना ही सभाओं में, पुस्तकों में, सिद्धान्त में हम समाज की बात करते हैं, उतना ही हम व्यक्तिवादी होते जा रहे हैं। जितना ही प्रजातंत्र की आवाज उठाई जा रही है, उतना ही व्यक्ति अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की ओर बढ़ता जा रहा है। व्यक्ति के व्यक्तित्व में बल अपने आपा के समर्पण से ही आता है। भारतीय व्यक्ति के व्यक्तित्व का ध्येय सदा ऐसा ही रहा है। व्यक्ति को समाज में समा नहीं जाना चाहिए, खो नहीं जाना चाहिए, पर समाज के लिये व्यक्ति स्वयं का एक तार अवश्य समझे। कई तारों के मिलने से ही वीणा में सब स्वर पूरे होते हैं। तब प्रत्येक तार को गीतत्व का अपना श्रेय मिलता है।

सामूहिक संगीत में अपने आप एक महान् शक्ति है। हमें अपने विकास के लिये व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों प्रकार के संगीत की आवश्यकता होती है। व्यक्तिगत संगीत जहाँ हमारी आत्मा की आन्तरिक शक्ति और सामर्थ्य को प्रबल करनेवाला है, वहाँ सामूहिक संगीत हमारे सारे व्यक्तित्व को, हमारे सम्पूर्ण वातावरण को चाहे वह बाह्य हो या अभ्यंतर शक्ति और सामञ्जस्य देनेवाला है।

लोग कहते हैं, यह बौद्धिकता का युग है, विज्ञान का युग है। पर समान रागात्मकता के बिना यह बौद्धिकता टिक नहीं सकती। रागात्मकता की जननी स्त्री ही रही है। मैं मानती हूँ कि आज भी वही है। यद्यपि हो इसका एकदम विपरीत रहा है। स्त्री की श्रद्धा समर्पण से उठती सी दिखाई देती है। आधुनिक स्त्री स्वतन्त्रता के फेर में पड़कर दिनों दिन उलझती जा रही है। वह केवल स्वतन्त्रता के शब्द से ही प्रभावित है। स्वतन्त्र होने का तात्पर्य केवल स्वच्छन्द पवन में घूमने से ही लेती है। वह उस शब्द की आत्मा नहीं देख पाती। इसी कारण वह जो चाहती है, उसके विपरीत हो रहा है। आज समय की इस भयानक आँधी के समय जब कि सारे मूल्य ही बदले जा रहे हैं, हमें अपने केन्द्र को और भी जकड़कर पकड़ना था। आँधी में बहुत भाग दौड़ करने से अधिक चोट लगने का तथा हानि उठाने का भय रहता है। इसलिए देखा यह जा रहा है कि कहीं तो स्त्री भयभीत होकर केन्द्र के पास ही चिपटकर रह गई है। यहाँ तक कि उसने केन्द्र की गति ही रुद्ध कर दी है। जिस प्रकार तैरते हुए व्यक्ति से कोई आकर चिपट जाय तो दोनों ही डूब जाते हैं, उसी प्रकार उसने केन्द्र को जड़ बना दिया है। स्त्री का केन्द्र कोई जड़ वस्तु नहीं है। वह तो तैरते हुए व्यक्ति की भाँति गतिशील है। देखा जाता है कि आधुनिक स्त्री पति और सन्तान तथा सामाजिक स्तर को ऊँचा करने में इतनी व्यस्त है कि परिवार, समाज और राष्ट्र की सेवा का भार जो और अधिक व्यापक होकर उस पर जा पड़ा है, एकदम नहीं हो रहा है।

लोग इसमें समय को, सरकार को उसकी आर्थिक नीति से ही दोषी ठहराते हैं। कुछ अंश में यह सब सही हो सकता है। पर रास्ता ढूँढ़नेवालों की कमी नहीं। एक व्यक्ति भी रास्ता मिल जाने पर न जाने क्या कर सकता है। एक विनोबा या गाँधी क्या नहीं कर सके, तो सम्पूर्ण स्त्री समाज मिलकर इसी वातावरण में सब कुछ कर सकता है। दूसरी ओर अत्यन्त आधुनिक और बौद्धिक स्त्री का यह दशा है कि वह केन्द्र के या तो पास ही नहीं जाना चाहती, या तो स्वयं ही केन्द्र होकर रहना चाहती है। कैसी घोर विडम्बना है। वह अर्थ से, यशोलिप्सा से, सबसे यही कहती घूमती है कि उसको अपना केन्द्र समझें। पर कोई भी उसे अपना केन्द्र नहीं मानता। उसकी हिम्मत बहुत शीघ्र पस्त हुई जा रही है। ईश्वर न करे उसे बहुत बुरे दिन देखने पड़ें। पर वह अपना सर्वनाश कर रही है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

आवश्यकता है कि आज की स्त्री समझे कि उसे अपने केन्द्र को सुदृढ़ बनाना है। आज मनुष्य का उत्तरदायित्व परिवार तथा समाज से बढ़कर राष्ट्र और विश्व तक में फैल चुका है। विज्ञान इस उत्तरदायित्व को दिनों दिन सुलभ बना रहा है। स्त्री को चाहिए कि वह पुरुष के उत्तरदायित्व को अपना ही उत्तरदायित्व समझे। यथार्थ में यह उसके केन्द्र का विस्तार है। उसे अधिक से अधिक रागात्मकता, अधिक से अधिक समर्पण शक्ति, समाज-सेवा का भाव अपने में जाग्रत करना चाहिए, जिससे उसका केन्द्र सुदृढ़ हो और उसे बल मिले।

———

जनपदीय साहित्य का समग्र अध्ययन

बैजनाथसिंह विनोद

हिन्दी भाषा का क्षेत्र बहुत व्यापक है। पश्चिम में राजस्थान से लेकर पूरब में राजमहल (संथाल परगना) तक और उत्तर में हिमालय की तराई से लेकर दक्षिण में विन्ध्य मेखला के परले सिरे तक हिन्दी बोली, समझी और विचार-विनिमय के काम में आती है। किन्तु इस विस्तृत प्रदेश के जन साधारण की भाषा— जनभाषा—साहित्यक हिन्दी नहीं है। जन-साधारण अपने उल्लास, आनन्द, क्रोध और घृणा की सहज अभिव्यक्ति हिन्दी—अर्थात् खड़ी बोली—में नहीं करता। वह ऐसी भाषा में अपनी अभिव्यक्ति करता है, जो हिन्दी न होकर भी हिन्दी है—उन भाषाओं ने विचार-विनिमय और अन्तरप्रान्तीय सम्बन्धों के लिये हिन्दी (खड़ी बोली) का निर्माण किया है। इसलिए उनका योग हिंदी में है; पर वे भाषाएँ जनपदीय हैं। उनमें राजस्थानी एक विस्तृत क्षेत्र की भाषा है। उसका प्राचीन साहित्य भी है। उसमें अनघड़ किंतु सरस लोक-साहित्य के अतिरिक्त शिष्ट और अलंकृत साहित्य भी है। ब्रज का साहित्य तो हिन्दी की निधि है ही। अवधी में जायसी और तुलसी की अमर रचना ही नहीं, अपढ़ जन-जीवन में व्याप्त सरस गीत भी हैं। भोजपुरी में कबीरदास ने अपने काल की जनता के जीवन-दर्शन का गान किया है। कबीर की वाणी में वह जीवन्त ओज था कि उसने निम्नतम जनता में विराट आंदोलन का रूप धारण कर लिया। कबीर को साहित्यिक सौंदर्य के लिये हिन्दी के इतिहासकारों ने कवि नहीं माना, बल्कि जन-साधारण के विश्वासों को, उसके जीवन-दर्शन को अपूर्व दृढ़ता और अक्खड़ता के साथ व्यक्त करने के कारण कवि माना। विद्यापति की मैथिली भी लोक-भाषा है। उसका साहित्य भी सम्पन्न है। इन सभी जनपदीय भाषाओं के अलावा बुन्देली, बघेली, छत्तीसगढ़ी, कुमाउनी, गढ़वाली, कौरवी, संथाली, मालवी और निमाड़ी आदि भी जनपदीय भाषाएँ हैं, जिनमें इस प्रदेश का अनपढ़, अनघड़ जन-साधारण अपनी इच्छा आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति करता है। इस सारे प्रदेश को हिन्दी जनपदीय क्षेत्र इसलिए कहा गया है कि इस प्रदेश की जनता ने हिंदी का निर्माण किया है; इस प्रदेश की सभी भाषाएँ हिन्दी के निकट हैं और हिन्दी भी इस प्रदेश की जनपदीय भाषाओं के निकट है।

जनपदीय भाषाओं का अध्ययन यूरोप से प्रारम्भ हुआ। शुरू में पुरातत्व और समाज व्यवस्था को समझने के लिये जनपदीय साहित्य का अध्ययन होता था। बाद में भाषा-शास्त्र की दृष्टि से अध्ययन होने लगा। इसका यह कारण है कि समय समय पर जन-जीवन के प्रश्नों और समस्याओं की दिशा बदलती रहती है। परिस्थितियों के बदल जाने से जीवन की आवश्यकताओं

और मूल्यों में भी परिवर्तन होता है। किसी काल में शुद्ध साहित्य, किसी में धर्म, किसी में दर्शन, किसी में नीति, किसी में सैनिक आदर्श और राजनीति, किसी में समाज रचना का ढाँचा तथा संगठन और किसी में जीवन के आर्थिक मूल्यों पर विशेष जोर दिया जाता है। पर वास्तव में ये सभी विषय जीवन के अंग विशेष हैं। केवल एक तक अपने को सीमित रखना सत्य से जी चुराना है। आज का जीवन तो व्यापक है। इसलिए अध्ययन में भी व्यापक दृष्टि आवश्यक है।

अभी तक जनपदीय साहित्य के अध्ययन का जो उद्देश्य था, वही आगे भी होगा, ऐसा समझना भारी भूल है। जनपदीय साहित्य जनता का साहित्य है—उस जनता का जो शास्त्रीय परम्पराओं से सम्बद्ध नहीं है। इसलिए जन-जीवन के विकास की दृष्टि से, जनता के मानसिक बनावट की दृष्टि से और जनता की इच्छा आकांक्षाओं की दृष्टि से जनपदीय साहित्य का बहुत महत्व है। यह सच है कि जनपदीय साहित्य उतना परिष्कृत नहीं है जितना कि नागर अथवा शिष्ट साहित्य। पर इसी कारण जनता के जीवन को समझने के लिये जनपदीय साहित्य में वैज्ञानिक सत्य है। निस्सन्देह प्राकृत रूप से जनपदीय साहित्य में साधारण जनता के जीवन की अबाध और अविच्छिन्न धारा बहती है। इसलिए सामाजिक जीवन के अध्ययन में उसकी उपेक्षा सम्भव नहीं।

हिन्दी जनपदीय साहित्य का अध्ययन पं० रामनरेश त्रिपाठी ने प्रारम्भ किया। त्रिपाठी जी ने बहुत लगन और तपस्या के साथ हिन्दी जनपदीय क्षेत्रों की भाषाओं के साहित्य का संकलन किया। अज्ञात रूप से उन्होंने जिन क्षेत्रों के साहित्य को अपने कार्य क्षेत्र में चुना, ज्ञात रूप से वही आज हिन्दी जनपदीय क्षेत्र है। त्रिपाठी जी के संकलन के प्रकाशित होते ही हिन्दी वालों का ध्यान इस महत्वपूर्ण विषय की ओर आकर्षित हुआ। अनेकों व्यक्तियों द्वारा विविध जनपदीय साहित्य का संकलन-कार्य शुरू हुआ। पर यह सम्पूर्ण संकलन अधिकांश रूप से काव्य-रस को परखने की दृष्टि से किया गया। निश्चय ही संकलित सामग्री और दृष्टियों से भी महत्वपूर्ण है। पर संकलनकर्ताओं की दृष्टि उस ओर नहीं थी। इससे कम परिमाण में, किन्तु वैज्ञानिक और सुलझी दृष्टि से, जनपदीय साहित्य पर भाषाशास्त्र की दृष्टि से काम शुरू हुआ। डॉ० उदयनारायण त्रिपाठी ने भोजपुरी पर बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया है। डॉ० विश्वनाथ प्रसाद जी ने भोजपुरी की ध्वनियों पर अच्छा कार्य किया है। ब्रजलोक वार्ता पर डॉ० सत्येन्द्र जी का कार्य भी बहुत महत्वपूर्ण है। डॉ० सत्येन्द्र जी के कार्य में अपेक्षाकृत व्यापकता अधिक है। उन्होंने ब्रज कथाओं का भी एक संग्रह प्रस्तुत किया है। वस्तुतः हिन्दी जनपदीय क्षेत्र में जनपदीय कथाओं का संग्रह बहुत ही कम हुआ है। डॉ० वैरियर एलविन ने महाकोशल की कहानियों का वैज्ञानिक दृष्टि से संग्रह किया है। पं० कृष्णदेव उपाध्याय ने भोजपुरी कहानियों का संग्रह किया है। पर अभी तक वह अप्रकाशित है। श्री शिवसहाय चतुर्वेदी जी ने "मधुकर" में अनेक बुन्देलखण्डी कहानियों का हिन्दी रूपान्तर प्रकाशित किया है। पर उनमें कहाँ तक प्रामाणिकता है, यह बताना कठिन है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, अभी तक इन्हीं दृष्टियों से जनपदीय साहित्य का या तो अध्ययन हुआ है, अथवा हो रहा है।

भाषा-विज्ञान—शब्दों की ध्वनि, संगठन, क्रम और वाक्य रचना के अध्ययन की विविध और विस्तृत सामग्री जनपदीय साहित्य में है। उस पर वैज्ञानिक दृष्टि से अब काम भी हो रहा है। इस दृष्टि से काम अभी तक मैथिली, भोजपुरी, अवधी और शायद ब्रजभाषा पर हुआ है। इस क्षेत्र में बहुत काम की गुञ्जाइश है। इस क्षेत्र में बहुत परिश्रम करना पड़ता है। निर्देशकों की भी इस क्षेत्र में प्रायः कमी है। यदि भाषा विज्ञान की दृष्टि से हिन्दी की जनपदीय भाषाओं का जमकर अध्ययन हो; तो अनेक रूपों से हिन्दी का विकास सम्भव है।

मुहाविरों और सूक्तियों का संग्रह—जनपदीय भाषा का जीवन से सीधा सम्बन्ध है; इसलिए इस दिशा में वह सम्पन्न है। जीवन की विविध परिस्थितियों—संस्कृत, अर्ध संस्कृत और असंस्कृत—का सहज अनुभव और भावों की अभिव्यक्ति, जिस सरलता के साथ जनपदीय भाषा और साहित्य में होती है, उतनी सरलता के साथ शहरी जीवन और संभ्रान्त भाषा में नहीं। संभ्रान्त भाषा में नागरिक संकोच अधिक होता है, जनपदीय भाषा में कम। इस कारण जनपदीय साहित्य में मुहाविरों और सूक्तियों की भरमार होती है। पर मुहाविरों की दिसा में बहुत कम काम हुआ है। छिट-फुट लेख बहुत देखने को मिले; किंतु ठिकाने का संग्रह बहुत कम है। यह नहीं कि संग्रह न हुआ हो। अनेक लोगों ने मुहाविरों का संग्रह किया है। पर उनका सम्पादन और प्रकाशन बहुत कम हुआ है। सभी हिन्दी जनपदीय भाषाओं के मुहाविरों का संग्रह हिन्दी आशयार्थ के साथ शीघ्र होना चाहिए।

लोकगीत—लोकगीतों का संकलन बहुत हुआ है। प्रायः सभी हिन्दी जनपदीय बोलियों के गीतों का कुछ न कुछ संग्रह हुआ है। पर प्राय सभी संग्रहों में कुछ खटकनेवाली भूलें हैं। गीतों का प्राप्ति-स्थान और प्राप्ति-काल शायद किसी संग्रह में नहीं है। शायद इसलिए कह रहा हूँ कि श्री गणेश चौबे की दृष्टि उधर है। इसके अलावा गीत के महत्व के अनुसार जिससे गीत सुना जाय, उसकी जाति और अवस्था का भी उल्लेख होना चाहिए। पर ऐसा नहीं है और यह ऐसी भूल है कि सम्पूर्ण संग्रह प्रामाणिकता की कोटि से स्खलित हो जाता है।

लोकगीतों का संग्रह तो बहुत हुआ है; पर उनका अध्ययन अभी बहुत कम हुआ है। लोकगीत रसमयता (सरसता) के साथ अपौरुषेय भी है। लोकगीतों में समष्टि भावना है। पर उस समष्टि का अर्थ सब समय सम्पूर्ण नहीं है। उसमें स्तरभेद भी है। इस स्तर-भेद को देखा जा सकता है। पर देखा नहीं गया है। लोकगीतों की रचना वहीं होती है, जहाँ व्यक्ति समष्टि में लीन हो जाता है। लोकगीतों में व्यक्तिगत स्वान्तः सुखमय कहीं नहीं होता। पर उसमें पक्ष होता है। उसमें सिद्धों, नाथों का एक पक्ष था, जिसपर से कबीर और सन्तों के मत का विकास हुआ। इस पक्ष की भावना समाज जीवन में व्याप्त थी, इसीलिए कबीर इतने प्रबल हुए। इसे प्रायः छिपाया जाता है, अथवा दबाया जाता है। पर अधिक दिनों तक इस सत्य को नहीं छिपाया जा सकता। लोकगीतों में राधाकृष्ण की भावना थी, उस परम्परा के गीत थे। उसी का व्यापक विकास सूर की प्रतिभा का प्रसाद है। डा० सत्येन्द्र जी के ब्रजलोक साहित्य के अध्ययन से इसका आभास लगता है। यदि यह भावना

ब्रज लोक समाज में व्याप्त न होती तो अपने उपजीव्य के अभाव में सूर की वाणी लुप्त हो जाती। कहने का मतलब यह कि लोकसाहित्य में समष्टि भावना, समष्टिगत स्तरभेद, समष्टिगत पक्ष-विपक्ष और और समष्टिगत परम्पराओं का प्रमाण है। अध्येताओं को उसका भी ध्यान रखना चाहिए।

छन्द—लोकगीतों में लय और स्वर की प्रधानता होती है। पिंगल सम्मत मात्रा, लघु-गुरु, गति यति विराम आदि का लोकगीतों में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं होता। किन्तु फिर भी लोकगीतों में एक छन्द होता है—वह छन्द उसका अपना होता है, जीवन से उद्‌भूत। महापंडित राहुल सांकृत्यायन का तो कहना है कि लोकगीतों के इन छन्दों ने समय समय पर संभ्रान्त—नागरिक-साहित्य और संगीत को भी नया जीवन प्रदान किया है। पर अभी तक छन्द की दृष्टि से लोकगीतों का अध्ययन नहीं हुआ है। यह अध्ययन ध्वनि शास्त्र और संगीत शास्त्र से भी गम्भीर रूप से सम्बद्ध है। पर छन्दों की दृष्टि से लोक-साहित्य का अध्ययन एक नए लोक की सृष्टि करेगा।

काव्य-शास्त्र—साधारण दृष्टि से ऐसा लगता है कि लोकगीतों का संकलन और अध्ययन काव्य सौंदर्य को निरखने और परखने के लिये किया गया। पर ऐसा कोई अध्ययन प्रकाश में नहीं आया। लोकगीतों के रस, शब्द-शक्ति, ध्वनि, व्यंजना और अलंकार को काव्य-शास्त्र के नियमों पर नहीं कसा जा सकता; क्योंकि काव्य शास्त्र के नियम शिष्ट समाज और शिष्ट साहित्य के आधार पर बने हैं। मुक्त मानव प्रकृति से उनका सीधा संबंध नहीं; जब कि लोकगीतों का मुक्त मानव प्रकृति से सीधा संबंध है। लोकगीतों का काव्य-शास्त्र कुछ भिन्न होगा। उस भिन्नता का आधार लोक-जीवन और लोक-परम्पराओं पर प्रतिष्ठित है। इस दृष्टि से लोकगीतों का अध्ययन नए तथ्यों को प्रकट करेगा।

कला—चित्रकला नागरिक जीवन में ही नहीं, ग्राम जीवन में भी है। ग्रामीण जन दीपावली के अवसर पर, शादी-विवाह के अवसर पर और कुछ उत्सवों पर दीवालों पर चित्र उरेहते हैं। चित्र उरेहने की चर्चा लोकगीतों में बहुत है। भवन निर्माण और उसके उपकरणों की भी चर्चा लोकगीतों में है। लोकगीतों के इस रूप पर श्री गणेश चौबे की दृष्टि गई है।

ऊपर लिखे विषयों पर जनपदीय साहित्य का एकदम अध्ययन नहीं किया गया है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। हाँ, व्यवस्थित अध्ययन बहुत कम हुआ है और तुलनात्मक उदाहरणों के साथ तो शायद हुआ ही नहीं है। पर कला (आर्ट) की दिशा में कुछ न कुछ अध्ययन हुआ है। किंतु विज्ञान की दिशा तो अभी अछूती ही है। अतः जनपदीय साहित्य का अध्ययन निम्नलिखित दिशाओं में भी होना चाहिए :—

मानव शास्त्र—जनपदीय कहावतों में अनेकों जातियों के चरित्र का निचोड़ है। जनपदीय विश्वासों, पूजा पद्धतियों, पुरोहितों और पूजा के गीतों में जातियों के मूल और उसके विकास-क्रमका रहस्य छिपा रहता है। एक शब्द में मानव के सामूहिक जीवन और संस्थाओं, उसके विचार, भाव, विश्वास, मान्यताओं और मूल्यों आदि की झाँकी जनपदीय साहित्य में

प्राप्त हो जाती है। इसके संकलन, वर्गीकरण और अन्वेषण से मानव-जीवन के विकास-क्रम पर प्रकाश पड़ सकता है। जैसे भोजपुरी जीवन में यमद्वितीया के दिन गोधना का पर्व, जिसमें कुमारी कन्याओं द्वारा जमीन पर गोबर की स्त्री-पुरुष की आकृति बनाना, उसमें चना रखना, उसे मूसल से मारना, गाली देना और फिर गीत गाना आदि के अध्ययन से और उस समय स्त्रियाँ आपस में जो कहानी कहती हैं, उसके द्वारा सम्भवतः यम-यमी संवाद और विवाह पद्धति पर प्रकाश पड़े। अनेक भोजपुरी लोकगीतों में बड़ा भाई छोटे भाई की स्त्री पर मुग्ध होकर उसे पाने की गरज से छोटे भाई को मार डालता है। पर भोजपुरी लोक जीवन में छोटे भाई की स्त्री की छाया लाँघना तक बड़े भाई के लिये दोष है। अतः इन गीतों का रहस्य क्या है? इसी तरह देवताओं और देवियों के सम्बन्ध में भी अनेक तथ्यों का जानना अभी बाकी है। कुछ लोग लोक शब्दों की व्युत्पत्ति के सहारे जनपदीय देवी-देवताओं का पता लगाने की कोशिश करते हैं। लोक जीवन में व्याप्त उस शब्दकी परम्परा को नहीं ढूँढ़ते। इसलिए नित नए भ्रमों की सृष्टि हो रही है। अतः मानव शास्त्र की दृष्टि से जनपदीय साहित्य का अध्ययन परम आवश्यक है। डॉ० श्यामाचरण दुबे ने इस दिशा में कुछ काम किया है। उनके पास एक योजना भी है। इंगलैण्ड से वापस आकर वह इस दिशा में ठोस कदम उठावेंगे।

समाज शास्त्र—भारतीय समाज में वर्ण, वर्ग जाति, वर्णेतर, अन्त्यज, स्त्री-पुरुष के विभिन्न रूपों के सम्पर्क और सम्बन्धों पर जनपदीय साहित्य में बहुत कुछ सामग्री है। परिवार, विवाह, स्त्री-जीवन, भोजन के नाना प्रकार, नाना प्रकार के वस्त्र, विविध प्रकार के शृंगार-प्रसाधन, मनोविनोद, रीति-रिवाज, प्रथाओं और आचार-विचार के सम्बन्ध में भी जनपदीय साहित्य समृद्ध है। इन सभी सामग्रियों के संकलन, वर्गीकरण और कालानुक्रमिक ऐतिहासिक अध्ययन से समाज शास्त्र के उपयुक्त ऐसी सामग्री हाथ लग सकती है, जिससे समाज में नए अध्याय की सृष्टि हो जाय। क्योंकि निचले वर्ग का अभी तक अध्ययन नहीं हुआ। धर्मशास्त्रों की बहुत कुछ सामग्री परम्परागत, पुरानी और सीमित है। जनपदीय सामग्री से उसमें ताजगी, व्यापकता और प्रामाणिकता के साथ नई प्रवृत्तियों पर प्रकाश पड़ेगा। भोजपुरी लोकगीतों में चमार के घर चित्रशाला सम्भव है। पर हिन्दू समाज का अध्ययन चमार को इतना सम्पन्न नहीं मानता। भोजपुरी ग्राम गीतों में चमार की स्त्री सती होती है। पर हिन्दू समाज और उसकी विवाह पद्धति के अनुसार चमार की स्त्री सती नहीं होगी—उसका सती होना सम्भव नहीं; क्योंकि चमार जाति में तलाक की प्रथा प्रचलित है। तो क्या चमारों के अन्दर उच्च वर्ग के आदर्श के अनुकरण की यह प्रवृत्ति है? जनपदीय साहित्य की इस समस्या का समाधान बिना समाज-शास्त्र के सम्भव नहीं है। पर अभी तक जनपदीय साहित्य का समाज-शास्त्रीय अध्ययन देखने में नहीं आया। सुना जाता है कि लखनऊ विश्वविद्यालय ने समाज शास्त्र के विद्यार्थियों को एम० ए० के निबन्ध के लिये जनपदीय साहित्य की ओर प्रेरित किया है। किन्तु कोई अध्ययन भी क्या करेगा; अभी तो ऐसे साहित्य का संकलन और सम्पादन भी नहीं हुआ है।

मनोविज्ञान—मनुष्य की मूलवासनाओं, भावनाओं, प्रवृत्तियों और विश्वासों की जितनी सहज अभिव्यक्ति जनपदीय साहित्य में है उतनी अन्यत्र कहीं नहीं। और मनुष्य की

मूल वासनाओं, भावनाओं और प्रवृत्तियों का अध्ययन मनोविज्ञान का विषय है। इसलिए मनो-विज्ञान की दृष्टि से भी जनपदीय साहित्य का अध्ययन परम आवश्यक है। क्योंकि समष्टिगत मानव अपने वास्तविक स्वरूप में जनपदीय साहित्य में रहता है। सोहर नामक गीत में स्वप्नों का वर्णन है, उसमे नए प्रतीकों का पता लग सकता है। विवाह के अवसर पर बहुत से गीत गाए जाते हैं, जिसमें काम के नए प्रतीक हैं। पर इस दृष्टि से जनपदीय साहित्य का अभी बिलकुल अध्ययन नहीं हुआ है। मनोवैज्ञानिक तत्वों के उदाहरण प्रायः नागरिक शिष्ट साहित्य से लिए जाते हैं, जिसमें अपेक्षाकृत कृत्रिमता है। अतः जनपदीय साहित्य का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन आवश्यक है।

जनपदीय साहित्य बहुजन समाज का साहित्य है। उसमें समाज-मानस, समाज जीवन—की सहज अभिव्यक्ति है। अतः मनुष्य जीवन को समझने के लिये जितने भी ज्ञान-विज्ञान हैं, उन सबसे जनपदीय साहित्य का सम्बन्ध है। इसलिए उन सभी दृष्टियों से जनपदीय साहित्य को देखना चाहिए। उसी तरह उन सभी ज्ञान-विज्ञानों की पूर्णता जनपदीय साहित्य से है, जिनका सीधा सम्बन्ध मानव जीवन से है।

मगही जनपदीय कार्यों पर एक दृष्टि

बिहार राज्य की चार प्रमुख जनपदीय भाषाएँ हैं। मैथिली, भोजपुरी, मगही* और संथाली। इनमें भोजपुरी का क्षेत्र विस्तृत है और यह बोली उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में भी बोली जाती है। जनपदीय भाषाओं की साहित्यिक प्रगति में भोजपुरी आगे है। मैथिली भी पीछे नहीं है। संथाली भाषा के साहित्य का अन्वेषण जारी है। कुछ रचनाएँ देवनागरी लिपि में प्रकाशित हो चुकी हैं। किन्तु मगही इस दिशा में सबसे पिछड़ी है। अभी तक इसका साहित्य प्रकाश में नहीं आ सका है।

हिन्दी साहित्य का इतिहास पढ़नेवाले विद्यार्थी यह जानते हैं कि हिन्दी का प्रारम्भिक रूप मगही में मिलता है; और हिन्दी के प्रथम कवि सरहपा की रचनाएँ मगही में मिलती हैं। किन्तु यह अतीत की बात है; और राहुल बाबा के अनुसन्धान का परिणाम। करीब बारह वर्ष हुए, मगही गीतों के संग्रह और अनुसन्धान सम्बन्धी कार्य के लिये राजेन्द्र साहित्य महाविद्यालय सेवदह (पटना) में मगही परिषद् की स्थापना की गई। पं श्रीकान्त शास्त्री ने गीतों के संग्रह करने का काम अपने जिम्मे लिया और जहाँ तक मुझे मालूम है, शास्त्री जी ने बहुत से गीतों का संग्रह किया है। 'मागधी' नाम की एक पत्रिका का भी कुछ दिनों तक सम्पादन किया, जिसकी भाषा खड़ी बोली थी। इस क्षेत्र में उनका प्रयास प्रशंसनीय है। पटना, गया और बिहार शरीफमें भी मगही गीतों के लिये एक दो समितियाँ बनी हैं। बिहार सरकार द्वारा संगठित राष्ट्रभाषा-परिषद् के तत्वावधान में मगही का काम हो रहा है।

मगही गीतों के सम्बन्ध में मैंने 'नैका बनिजारा' के गीतों को लिपिबद्ध किया था और उस पर आवश्यक टीका-टिप्पणी लिखकर मगही गीतों की फाइल में रख दिया। १० वर्षों के बाद उसको प्रकाशित करने के लिये पं० उदयनारायण तिवारी एम० ए० डी० लिट् के पास भेज दिया।

मगही गीतों में तुक और मात्राओं की गिनती क्रम से नहीं मिलेगी जैसा कि दूसरे जनपदीय लोकगीतों में है। परन्तु भावों की स्निग्ध धारा अजस्र रूप में प्रवाहित हो रही है। जब लोरिक, बिरहा और गोपीचन्द के गीत मस्त होकर गाए जाते हैं, उस समय निद्रा देवी पलायन कर जाती हैं और हम भाव लोक में डूबकर रस निमग्न हो जाते हैं।

मगही गाँव (ग्राम) गीतों का संग्रह इस प्रकार हुआ है:—

---

* मगही से मिलती-जुलती भाषा कुर्माली है जो छोटा नागपुर के जिलों में बोली जाती है।

(अ) १—महादेव के गीत
२—विभिन्न ग्राम देवी देवताओं के गीत
३—कबीर बानी
४—साखी
५—सोहर
६—विवाह के गीत
७—चैतावर
८—होली
९—ग्वालिन,
१०—बारह मासा
११—कजली
१२—झूमर
१३—जितिया
१४—पूरबी
१५—ठुमरी
१६—जँतसार
१७—बिरहा
१८—मानर के गीत

उपरोक्त गीतों की संख्या अनुमानतः ५०० है।

(ब) 'नैका बनिजारा'कथा काव्य है, जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। इसमें ७१२ पंक्तियाँ हैं। कथा को ७ अनुच्छेदों में विभक्त किया गया है। पढ़ने में रस की अनुपम छटा मिलती है। भाषा ठेठ मगही है। सीमावर्ती बोलियों का प्रभाव बहुत कम पड़ा है।

(स) बालकों से सम्बन्ध रखनेवाले गीतों का एक संग्रह किया है; जिसकी संख्या लगभग १०० से अधिक है।

(द) 'मगही शब्द कोष' बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् द्वारा तैयार किया जा रहा है, जिसमें शब्दों की संख्या लगभग १५ हजार तक पहुँच गई है।

संग्रह की वैज्ञानिकता

गीतों का संग्रह चाहे जैसा हो, पर किया जाय। कम से कम गीतों का रूप तो सामने आ जायगा। यह सिद्धान्त किसी अंश में ठीक है, किन्तु एक समस्या है। यदि वैज्ञानिक ढंग से गीतों का संग्रह नहीं हुआ तो यह कहना कठिन है कि कौन गीत ठेठ मगही भाषा का है। मगही का क्षेत्र पटना, गया और दक्खिनी-पश्चिमी मुंगेर जिला है। इन जिलों के अतिरिक्त हजारीबाग का उत्तरी हिस्सा भी मगही बोली का क्षेत्र है। मगही बोलनेवालों की संख्या अनुमानतः ७० लाख के लगभग है। यहाँ की विभिन्न जातियों को हम दो श्रेणी में विभाजित कर सकते हैं। पहलो श्रेणी उन लोगों की है जिनका वैवाहिक सम्बन्ध भोजपुरी और मैथिली जनपद के अन्तर्गत होता रहता है। दूसरी श्रेणी में वे लोग आते हैं जिनका वैवाहिक सम्बन्ध मगध के अन्दर ही होता है। पहली श्रेणी के लोगों के यहाँ की भाषा शुद्ध नहीं मानी जा सकती; क्योंकि भोजपुर की बेटी मगध की बधू हुई तो वह मायके से अपनी पूर्व परम्परा और संस्कृति को लिए हुए भोजपुरी गीतों को ही गाएगी। यही बात भोजपुरी बधू के लिये भी सम्भव हो सकती है। ऐसी अवस्था में पतिगृह में ननद-भौजाई तथा अन्य दूसरी औरतों के सुर में सुर मिलाने पर जनपदीय बोली की नैसर्गिकता नष्ट हो जाती है। यद्यपि मगही, भोजपुरी और मैथिली के बहुत से शब्द ऐसे हैं, जिनमें बहुत कुछ समता है। हमारा ख्याल है कि तीनों जनपदीय बोलियों के तुलनात्मक अध्ययन से यह भलीभाँति जाना जा सकता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि दूसरी श्रेणी के लोगों की भाषा को ठेठ मगही मान लेते हैं, तो इस श्रेणी के अन्तर्गत कौन सी जाति अथवा जातियाँ हैं ? शनैः शनैः समाज की व्यवस्था बदल रही है; उसके बन्धन ढीले हो रहे हैं। अन्तर्जातीय विवाह बढ़ रहे हैं और बढ़ते ही जायँगे। प्रगतिशील समाज का यही शुभ लक्षण है। ग्राम भाषाएँ भी बहनेवाली उस नदी के समान हैं; जिसमें कहीं बालू, कहीं सेवार और कहीं काली मिट्टी का संसर्ग पाकर भी जल की निर्मलता, सुरम्य बावली तथा ताल-तलैया के जल से अधिक है। फिर भी हमें ठेठ मगही के रूपों को साहित्य में शीघ्र उतार लेना है। वर्तमान समय में मेरा अनुसंधान इसी विषय पर चल रहा है। अभी तक जो परिणाम निकले हैं; उनसे यही निष्कर्ष निकला है कि कुर्मी, घमैल, क्षत्रिय और कोचैसा दोनों उपजातियों का वैवाहिक सम्बन्ध मगध से बाहर नहीं है। यदि यह अनुसंधान सत्य उतरा, तो इन जातियों के रहन-सहन, रीति-रस्म, परम्परा और विवाह-संस्कार आदि की पूरी छान-बीन करनी होगी। उनके इतिहास, जनसंख्या, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थिति पर विचार करना होगा। इस समाज के गीतों, मुहावरों के साथ दूसरे लोगों के गीतों और मुहावरों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने से मगध जनपद की भाषा मगही और वहाँ के निवासियों के जीवन :एवं कला पर पूरा प्रकाश पड़ेगा। बिहार राज्य की सरकार तथा हिन्दी के विद्वानों के लिये यह विचारणीय प्रश्न है।

—मथुराप्रसाद सिंह

जनपदीय चयन

यह सन्तोष की बात है कि हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं में लोक-साहित्य-सम्बन्धी सामग्री अब पर्याप्त मात्रा में दी जाने लगी है। इस श्रेणी का जो साहित्य हमारे देखने में आया है उसकी संक्षिप्त सूचना नीचे दी जा रही है।

सुमित्रा के सितम्बर १६५२ के अंक में श्री नारायणप्रसाद अरोड़ा ने 'कहावतों की कहानियाँ' शीर्षक एक लेख लिखा है, उसमें कहावतों के साथ कहानियाँ भी लिखकर यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार कहावतों में नीति सम्बन्धी उपदेश निहित हैं। इसी अंक में श्रीश्याम परमार एम० ए० ने 'सती प्रथा एवं तत्सम्बन्धी लोकगीत' शीर्षक एक निबन्ध लिखा है। इसमें सती सम्बन्धी तीन मालवी लोकगीत भी हैं। इसी अंक में लोक कहानियों के मर्मज्ञ विद्वान् श्री शिवसहाय चतुर्वेदी का 'चतुर पनिहारी' तथा 'वर्षा और स्वास्थ्य-विज्ञान' भी है। 'चतुर पनिहारी' में ग्राम वधू की नीति-निपुणता और साहस का परिचय है। 'वर्षा और स्वास्थ्य-विज्ञान' में बुन्देलखण्डी कविताओं और कहावतों द्वारा वहां की जनता के विपुल अनुभव को संक्षेप में लिपिबद्ध किया गया है। इसी अंक में 'निमाड़ी लोक-साहित्य — एक परिचय' नामक श्री रामनारायण उपाध्याय का एक लेख भी है, जिसमें बहुत ही संक्षेप में निमाड़ी लोकगीतों का परिचय कराया गया है। पर यह लेख उपाध्याय जी के 'निमाड़ी लोकगीत' नामक ग्रन्थ के आधार पर है, जिसे मध्यप्रान्त विदर्भ हिन्दी साहित्य सम्मेलन (जबलपुर) से दो रुपये में प्राप्त किया जा सकता है। **सुमित्रा** के नवम्बर ५२ के अंक में श्री वंशीधर शुक्ल की अवधी की तीन कविताएं हैं—१. कवि सम्मेलन, २. मुशायरा और ३. सिनेमा दर्शन। तीनों कविताओं में लोक भावना की अभिव्यक्ति के साथ ही साथ एक ताजगी और तीव्र व्यंग भी है। इसी अंक में श्री रामनारायण उपाध्याय ने 'तभी' नामक एक निमाड़ी लोक कहानी भी छपवाई है। इसमें शिष्ट आचरण को समझने की लोक-विधि है। इसी अंक में श्री श्याम परमार द्वारा प्रस्तुत 'मालवी साहित्य का संक्षिप्त परिचय' भी है। इसमें बहुत ही संक्षेप में 'चन्द्र-सखी' के गीत, 'मंच' अर्थात् लोकनाट्य, लावनी और किलंगी-तुर्रा' की ओर संकेत तथा मालवी लोकसाहित्य के अध्ययन के प्रयत्नों का उल्लेख मात्र है।

जीवन साहित्य दिसम्बर १६५२ के अंक में श्रीमती आदर्शकुमारी यशपाल का 'हमारी लोक-कथाएं' प्रकाशित है। इसमें लोककथाओं के महत्व पर प्रकाश डाला गया है।

अवन्तिका के दूसरे अंक में 'गुजराती भाषा के लोकसाहित्य संबंधी कार्य' शीर्षक से श्री अगरचन्द नाहटा ने एक निबंध लिखा है। इसमें बताया गया है कि किस प्रकार फार्वस साहब ने 'रासमाला' नामक ग्रंथ में अनेक ऐतिहासिक-लोक-प्रवादों का संग्रह किया। कवि नर्मदाशंकर ने गुजराती लोकगीतों का संग्रह करके 'नागर स्त्रियाँ माँ गवाता गीत' नाम से प्रकाशित किया। फिर महीपत राय ने 'बनराज चावड़ो' नामक ऐतिहासिक जीवनचरित्र में लोकगीतों को संगृहीत किया। इसके बाद सन् १८६६ ई० में एक पारसी ने गुजरात

और काठियावाड़ में घूम-घूमकर लोकवार्ता का संग्रह किया। सन् १९०५ ई० में गुजराती साहित्य परिषद् का प्रथम अधिवेशन अहमदाबाद में हुआ। इसमें स्व० रणजीत राम जी ने 'लोकगीत' नामक निबंध पढ़ा। इसी समय श्री एम० किनकेड ने सौरठी चारणों को बुलवाकर उनके द्वारा बहारवटियों के गीत, दोहा और काठियावाड़ी वीरगाथाओं को संगृहीत करके प्रकाशित कराया। सन् १९१७ में शिक्षा के उद्देश्य से स्व० गीजूभाई ने लोक गीतों का संग्रह करवाया और आगे चलकर 'काठियावाड़ी जवाहिर' नाम से प्रकाशित भी करवाया। १९१२ ई० में राजकोट के कानजी धर्म सिंह ने काठियावाड़ में प्रचलित दोहे, सोरठे, कुंडलिया, महुली, वाक्य, आंखाणा आदि का संग्रह 'काठियावाड़ी साहित्य' के नाम से प्रकाशित किया। सन् १९२१ ई० में हरगोविंद प्रेमशंकर ने 'काठियावाड़ी जूनी वार्ताओं' नामक ग्रंथ प्रकाशित कराया। इस ग्रंथ की प्रस्तावना श्री बलवन्तराय ठाकुर ने विस्तृत रूप से लिखी। इसके बाद लेखक ने बताया है कि किस प्रकार श्री झवेरचंद मेघाणी को लोक-साहित्य ने प्रेरित किया और लोकगीतों के संकलन तथा अध्ययन के लिये उन्हें कैसी सुविधा मिली। सन् १९२३ ई० से गुजराती लोकसाहित्य के क्षेत्र में श्री झवेरचंद मेघाणी के काल का प्रारम्भ होता है। १९४१–४२ में बम्बई विश्वविद्यालय ने ठक्कर वसन जी माधव जी व्याख्यान में लोकसाहित्य पर व्याख्यान देने का गौरव मेघाणी जी को दिया। मेघाणी जी ने १९४३ में बम्बई विश्वविद्यालय में ५ व्याख्यान दिए जो विश्वविद्यालय की ओर से 'लोक-साहित्य समालोचन' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं।

इस प्रकार यह लेख गुजराती लोक-साहित्य की बहुविध जानकारी से सम्पन्न है।

आजकल के दिसम्बर१९५२ के अंक में श्री देवेन्द्र सत्यार्थी जी का 'सन्थाली लोकगीत' शीर्षक लेख प्रकाशित है। इनमें कुल १६ सन्थाली गीत अनुवाद सहित दिए हुए हैं। ५ का संग्रह श्री मोहनसिंह ने, ९ का श्री दिवाकर साहू 'समीर' ने और २ का संग्रह श्री शम्भूनाथ जी ने किया है। **आजकल** के इसी अंक में श्री हर गोविन्द गुप्त का 'बुन्देल खण्डी बुझौअल' छपा है। लेख छोटा, पर तथ्यपूर्ण है। **आजकल** (जनवरी ५३) में श्री देवेन्द्र सत्यार्थी का 'काश्मीरी लोकगीत' छपा है। लेख के प्रारम्भ में कश्मीरी लोकगीतों के सम्बन्ध में कुछ तथ्य हैं और फिर कुछ सुन्दर गीत, जिनका हिन्दी रूपान्तर भी साथ ही है।

विन्ध्याचल (छतरपुर) के २२ दिसम्बर ५२ के अंक में श्री लखनप्रताप सिंह 'उरगेश' जी ने बघेलखण्डी भाषा और साहित्य पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। उससे यह भी स्पष्ट होता है कि उन्होंने बघेलखण्ड के लोकगीतों का संग्रह प्रस्तुत किया है, जिस संग्रह में:—

१. जीवन के संस्कार तथा इनके अन्तर्गत चलतू रीतियों एवं प्रथाओं पर गाए जानेवाले गीत।

२. इन्हीं अवसरों पर गाए जानेवाले, किन्तु विशेष जातियों के गीत। क्योंकि उनमें जातिगत ऐतिह्य होगा।

३. त्योहारों पर गाए जानेवाले गीत।

४. विशेष अवसरों एवं आयोजनों पर गाए जानेवाले गीत।

५. काम करते हुए गाए जाने वाले गीत ।

इनके अतिरिक्त 'उरगेश' जी ने लोकोक्तियों और पहेलियों का भी संग्रह किया है ।

कल्पना (दिसम्बर ५२) में श्री श्याम परमार का 'लोक-मानस की त्रिधाभिव्यक्ति' शीर्षक बहुत ठोस लेख छपा है। लोकगीत, लोकसंगीत और लोकनृत्य की समाज-भावना पर यह लेख आधारित है । लेखक ने यह सिद्ध किया है कि भावाभिव्यक्ति के इन तीनों साधनों में समाज-मानस की अभिव्यक्ति होती है । लेख सारपूर्ण है । **कल्पना** के जनवरी १९५३ के अंक में डोमन साहु 'समीर' का 'संथाली लोकगीतों में प्रेम और सौन्दर्य' शीर्षक लेख छपा है । लेख में सहज रोमानी भाव है ।

साहित्य संदेश (जनवरी--फरवरी ५३) में 'लोक कहानियों का उदय' शीर्षक से डाक्टर सत्येन्द्र जी का एक निबन्ध है । कहानियों का किस प्रकार आदि मानव काल से प्रारम्भ होता है, उसका कल्पना-विधान प्रारम्भ में कैसा था, शिष्टसाहित्य में उसने क्या रूप लिया— इन सारी बातों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है । लेख पठनीय और संग्रहणीय है ।

राष्ट्रभारती दिसम्बर १९५२ में श्री डोमन साहु 'समीर' ने दाम्पत्य जीवन सम्बन्धी एक संथाली गीत का अनुवाद मूल के साथ प्रकाशित कराया है ।

"लोक-साहित्य, जनपद-साहित्य और संस्कृति विषयक सामग्री के संकलन, अध्ययन और अनुसन्धान की प्रवृत्ति भी हमारी नवचेतना की परिचायक है । हिन्दी जनपदीय परिषद् का मुख-पत्र 'जनपद' का प्रकाशन अक्तूबर १९५२ से प्रारम्भ हुआ । प्रथम अंक में ही ग्राम-साहित्य, भोजपुरी लोकगीत, मालवी भाषा, लोक-साहित्य का अध्ययन, गुजरात के लोक कवि मेघाणी आदि अत्यन्त पठनीय और प्रेरणा उत्पन्न करनेवाले लेख प्रकाशित हुए हैं । 'जनपद' का स्वागत साहित्य के क्षेत्र में बड़े उत्साह से किया गया है ! इनके अतिरिक्त 'आजकल', 'राष्ट्र-भारती', 'नया समाज', 'नई धारा', 'ज्ञानोदय', 'नया जीवन', 'धर्मयुग', 'अजन्ता', 'कल्पना' आदि पत्र-पत्रिकाओं में लोक-साहित्य के परिचायक लेखों अथवा साहित्य का निरन्तर प्रकाशन होता रहता है । कुछ पत्रिकाओं में तो तद्विषयक स्थायी स्तम्भ हैं । इनमें देवीलाल सामर का राजस्थानी लोकनाट्य, दिवाकर साहु का मालेर और उनकी संस्कृति (नई धारा) संथाल और उनकी संस्कृति (अवन्तिका), राजस्थानी लोककला (कल्पना), भारतीय संस्कृति और समाज (ज्ञानोदय) आदि उल्लेखनीय हैं । इस प्रकार कहा जा सकता है कि हिन्दी में अन्तर प्रान्तीय साहित्य का अध्ययन, अनुसन्धान और आलोचन जिस गति से हो रहा है, वह उज्ज्वल भविष्य का द्योतक है ।" (राष्ट्रभारती मार्च ५३)

नईधारा के नवम्बर ५२ के अंक में श्री सुरेश प्रसाद गुप्त एम० ए० ने भोजपुरी लोकगीतों में रस, लय और माधुर्य नामक लेख लिखा है । लेख भावना प्रधान और स्पष्ट है । (दिसम्बर ५२) में 'पावड़ा : महाराष्ट्र का प्रसिद्ध लोककाव्य' शीर्षक लेख है । पावड़ोंके सम्बन्ध में साधारण जानकारी की बातें इस लेख में हैं ।

फरवरी १९५३ की "नई धारा" में भोजपुरी भाषा के श्रेष्ठ कवि प्रिंसपल श्री मनोरंजन एम० ए० का 'सम्पाती-कथा' काव्य प्रकाशित हुआ है । यह सम्पाती रामायण के जटायु का

भाई है, जो पंखविहीन होकर समुद्र तट पर था और जिसने वानरों को सीता का निश्चित पता बताया। सम्पाती की कथा को कवि ने भक्ति रस से भर दिया है। कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

गीध के देखले जाटायू इत्रादि आवे
याद आवेला सम्पाती—हो राम,
अधम से खग होके भगति के बल पर
बइठले भगत के पाँती—हो राम
गीध के कुल में जनम ले ले दूनो,
दूनो बड़ा उतपाती—हो राम,
जोम में जवानी के सुरुज मुख चललें,
तानि घमंड से छाती—हो राम,
तेज न सहले लौटले जटायू,
उड़ते गइले सम्पाती—हो राम,
जरि गइले पंख त गिरि गइले भुइयाँ,
केहू ना संग सँघाती—हो राम,
याद आवेला सम्पाती—हो राम।

× × ×

सीता मोहित होइहें देखि के हरिनवा के।
ओकर रूप लोभा लीही मनवा के।
सीता मोहित होइहें—
सोना के हरिना कबो देखली न सुनली,
तबो होई लोभ कंचनवा के।
सीता मोहित होइहें—
लोभ में आके सिया राम से कहिहें,
ला दीं स्वामी, मृगछाला सोनवा के।
सीता मोहित होइहें—

प्रिंसपल मनोरंजन जी का यह कथा काव्य जनपदीय काव्य में एक नई सीमा है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि भोजपुरी भाषा वीर रस के उपयुक्त ही नहीं, भक्ति रस के उपयुक्त भी है।

———

जनपदीय सूचनाएं

१ बुन्देलखण्ड लोकसाहित्य परिषद्

बुन्देलखण्ड लोकसाहित्य परिषद् की स्थापना १५,३,५० को छतरपुर में हुई।

परिषद् के उद्देश्य:—

१. बुन्देलखण्ड की संस्कृति को प्रकाश में लाना। यहाँ की जनता के रहन-सहन, रीति-रिवाज, उत्सवों, धार्मिक विश्वासों, व्रतों, त्योहारों तथा संस्कारों आदि का वैज्ञानिक अध्ययन करना।

२. आदिवासी, पिछड़ी हुई एवं अन्य जातियों की काव्य, नृत्य तथा नाट्य आदि लोक-कलाओं को प्रकाश में लाना।

३. बुन्देलखण्ड के लोकसाहित्य का संकलन और प्रकाशन।

४. मानव-विज्ञान, समाजविज्ञान तथा लोकसाहित्य पर लेख और पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित करना।

५. प्रचार और प्रकाशन के लिये आधुनिक साधनों, जैसे रेडियो, फोटोग्राफ, पत्र, पुस्तक, प्रदर्शनी, सभा, सम्मेलन आदि का उपयोग करना।

६. पुरातत्व, मानव-विज्ञान, समाज-विज्ञान, लोकसाहित्य तथा लोककला संबंधी अनुसंधान करना।

७. लोक-संस्कृति तथा लोक-साहित्य के क्षेत्र में कार्य करनेवाले अन्य प्रांतीय एवं विदेशी विद्वानों से सम्पर्क स्थापित करना।

बुन्देलखण्ड लोकसाहित्य परिषद् को निम्नलिखित विशिष्ट व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त है:—

माननीय श्री महेन्द्रकुमार 'मानव' (शिक्षा मंत्री वि० प्र०) श्री हरीराम मिश्र (प्रिंसिपल, महाराजा कालेज छतरपुर) श्री कृष्णानन्द गुप्त, श्री चन्द्रभानु विशारद, डा० वेरियर एलविन, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पं० बनारसी दास चतुर्वेदी, श्री वृन्दावनलाल वर्मा, श्री देवेन्द्र सत्यार्थी।

परिषद् ने १५ मार्च १९५० से लेकर ५ अप्रैल १९५१ तक जो कुछ किया, उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:—

श्री श्रीनिवास शुक्ल ने ईसुरी की कुछ फागों का संग्रह किया। श्री बलदेव प्रसादजी ने ब्याह के गीतों का तथा श्री स्वामी प्रसाद अड़जरिया ने पाटीचनायकों का संग्रह किया। इसके अलावा लोकसाहित्य पर प्रकाशित ग्रंथों का भी संग्रह किया गया।

परिषद् को निम्न तीन विभागों में बाँट सकते हैं।

१. चम्बल विभाग—जिसमें झाँसी, टीकमगढ़, दतिया और उत्तर प्रदेश का बुंदेलखण्डी हिस्सा होगा। इसका कार्यालय झाँसी में होगा।

२. नर्मदा विभाग—जिसमें जबलपुर, सागर तथा मध्यप्रदेश का बुंदेलखण्डी हिस्सा और भोपाल का बुंदेलखण्डी भाषा-भाषी भाग होगा। इसका कार्यालय जबलपुर में होगा।

३. यमुना विभाग—जिसमें बाँदा, हमीरपुर, जालौन, छतरपुर और पन्ना होगा। इसका कार्यालय छतरपुर में रहे।

बुन्देलखंड परिषद्—नाम से इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कुछ बुंदेलखण्ड वासी विद्यार्थियों और अध्यापकों ने भी एक संस्था की प्रतिष्ठा की है। इसके सभापति डा० रामकुमार वर्मा और मंत्री श्री पृथ्वीनाथ चौबे हैं। विद्यार्थियों में जनपदीय कार्यों के प्रति विशेष रुचि पैदा करना इसका उद्देश्य मालूम होता है।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

विगत वर्ष का संक्षिप्त कार्यविवरण

'बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्' के विगत एक वर्ष का कार्य-विवरण इस प्रकार है—

पुरस्कार-वितरण—इस साल निम्नलिखित पुरस्कार दिए गए हैं—

(१) बिहार के वयोवृद्ध साहित्यकार, 'बटोहिया' लोकगीतवाले, छपरा निवासी श्री रघुवीर नारायण को डेढ़ हजार रुपये का सम्मान पुरस्कार।

(२) बिहार के उदीयमान युवक कवि श्री पोद्दार रामावतार 'अरुण' को पाँच सौ रुपये का प्रोत्साहन पुरस्कार।

(३) पटना विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास-संस्कृति विभाग के अध्यक्ष डा० अनन्त सदाशिव अलतेकर को, उनके लिखे 'प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति' नामक ग्रन्थ पर, एक हजार रुपये का पुरस्कार।

४—हिन्दी निबन्ध प्रतियोगिता में विजयी होनेवाले छात्रों को एक-एक सौ रुपये के आठ पुरस्कार दिए गए।

साहित्यिक संस्थाओं को अनुदान—इस वर्ष निम्नलिखित साहित्यिक संस्थाओं को मौलिक ग्रन्थ प्रकाशन के लिये अनुदान दिया गया—

१—पूर्णिया जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन को, स्वर्गीय 'द्विजदेनी' कवि की संगृहीत ग्रंथावली के प्रकाशन के लिये एक हजार रुपये। २—बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन को उसके शोध-समीक्षा सम्बन्धी त्रैमासिक मुखपत्र 'साहित्य' के लिये आर्थिक सहायता स्वरूप एक हजार रुपये। ३—काशी विश्वविद्यालय की हिन्दी जनपदीय परिषद् को, लोक साहित्य के प्रकाशन के निमित्त पाँच सौ रुपये। ४—वैशाली संघ (मुजफ्फरपुर) को वैशाली की खुदाई का सचित्र पुरातत्व विवरण हिन्दी में प्रकाशित करने के लिये साढ़े सात सौ रुपये। ५—पटना के अखिल

भारतीय हिन्दी शोध-मण्डल' को 'हिन्दी के प्रतिनिधि एकांकीकार' नामक मौलिक और प्रामाणिक पुस्तक प्रकाशित करने के लिये साढ़े सात सौ रुपये।

भाषण—इस वर्ष निम्नलिखित तीन भाषण हुए—

१—डा० सत्यप्रकाश (प्रयाग विश्वविद्यालय) का 'वैज्ञानिक विकास को भारतीय परम्परा' पर।

२—प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा (बिहार युनिवर्सिटी इंस्पेक्टर) का 'रबर' पर।

३—श्री गोरखनाथ सिंह (भूतपूर्व शिक्षा निर्देशक, बिहार) 'राष्ट्रीय अर्थनीति' पर।

प्रत्येक भाषण के लिये एक हजार रुपये का पुरस्कार दिया गया। ये भाषण अगले साल छपेंगे।

प्रकाशन विभाग—इस साल ८ पुस्तकें प्रेस में दी गई थीं जिनमें ३ प्रकाशित हो चुकी हैं और ५ पुस्तकें आगामी वर्ष के आरम्भ में ही प्रकाशित हो जायंगी।

लोक भाषा अनुसन्धान विभाग—इस विभाग का काम डा० विश्वनाथ प्रसाद के तत्वावधान में होता है। इस वर्ष भोजपुरी के १००७, मैथिली के २७१६ और मगही के ३०६० पारिभाषिक शब्द आए हैं। इस साल १०६०५ शब्दों की कार्ड-सूची तैयार की गई है। आज तक कुल ३१५०० पारिभाषिक शब्दों की कार्ड-सूची तैयार हो चुकी है। लोकभाषा का जो पारिभाषिक शब्दकोश तैयार हो रहा है, सम्प्रति उसके शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन इस दृष्टि से किया जा रहा है कि ग्रियर्सन के समय से आज तक—अस्सी वर्षों के बाद—उनके रूप, अर्थ और प्रयोग में कितना अन्तर आ गया है। इनके अतिरिक्त इस साल मैथिली के ६८ लोकगीत और ३२ लोककथाएँ तथा मगही के २७३ लोकगीत, १६ कथाएँ, ६६३ पहेलियाँ और ५५८ मुहावरे संगृहीत हुए हैं। सन्थाली के भी २१६ लोकगीत प्राप्त हुए हैं। आजतक भोजपुरी, मैथिली और मगही के कुल ३३२८६ पारिभाषिक और ४७४६ सामान्य व्यवहार के शब्द आए हैं। इसके अलावा सभी बोलियों के १३६७ लोकगीत, ३३४७ कहावतें, ७०९ पहेलियाँ, ६८५ मुहावरे और लोक कथाएँ हैं। संथाली के भी ४६१३ पारिभाषिक शब्द प्राप्त हुए हैं।

प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ शोध-विभाग—इस विभाग का कार्य डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री के तत्वावधान में होता है। इस साल विभाग के शोधकर्ताओं ने पुस्तकों के अनुसन्धान के लिये विभिन्न ७५ स्थानों में भ्रमण किया जिसके फलस्वरूप संस्कृत, हिन्दी, बंगला, उर्दू और गुरुमुखी की ३७७ हस्तलिखित पोथियाँ एकत्र की गईं। इसके अलावा ३० अलभ्य मुद्रित ग्रंथ और ४० दुर्लभ पत्र-पत्रिकाएँ भी प्राप्त की जा सकी हैं। इस वर्ष चम्पारन निवासी श्री गणेश चौबे ने लगभग २०० हस्तलिखित पोथियों की प्राप्ति में सहायता पहुँचाई है। उन पोथियों में चम्पारन जिले के 'सरभंग सम्प्रदाय' के सन्तों की वाणियाँ भी हैं। पिछले साल भी चौबे जी की सहायता से १५३ ऐसी पोथियाँ प्राप्त हुई थीं।

अब तक इस विभाग में कुल मिलाकर ६३३ हस्तलिखित पोथियाँ, ५० मुद्रित पुस्तकें तथा ६० दुर्लभ पत्र-पत्रिकाएँ संगृहीत हो चुकी हैं। बिहार राज्य के कुछ प्रमुख पुस्तकालयों में

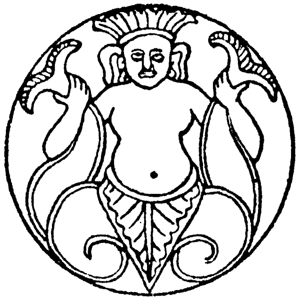
सुरक्षित १५७ हस्तलिखित प्राचीन ग्रंथों का लिखित विवरणात्मक परिचय प्राप्त हुआ है जिसमें से ६८ पोथियों का विवरण 'साहित्य' में छप चुका है।

परिषद् पुस्तकालय—पुस्तकालय में इस साल लगभग चार हजार पाँच सौ रुपये के ११८५ नए ग्रंथ संगृहीत हुए हैं जिनमें कोई ४५० दुर्लभ मुद्रित ग्रन्थ हैं। साढ़े तीन सौ रुपयों की ५६ दुर्लभ पत्र-पत्रिकाओं की फाइलें भी खरीदी गई हैं। इस तरह अब तक पुस्तकालय में ३७८५ दुर्लभ और नए प्रामाणिक ग्रन्थ तथा २५६ पत्र-पत्रिकाओं की फाइलें सँजोई जा सकी हैं। आजकल हिन्दी को ५० नई पत्र-पत्रिकाएँ पुस्तकालय में आ रही हैं जिनकी सुरक्षा सावधानी से की जाती है। परिषद् के सदस्यों को ही घर ले जाकर पढ़ने के लिये पुस्तकें दी जाती हैं। अन्य सज्जन आफिस टाइम में पधार कर पुस्तकालय से लाभ उठाते हैं। इस वर्ष अध्ययन के लिये ६०० पुस्तकें दी गईं। परिषद्-पुस्तकालय को साहित्यिक शोध के लिये एक सुसम्पन्न संग्रहालय बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

संथाली समिति—सरकारी आदेशानुसार परिषद् के तत्वावधान में एक संथाली समिति भी है। इसके द्वारा संथाली साहित्य की संग्रहणीय सामग्री को राष्ट्रभाषा हिन्दी में लाने का प्रयत्न हो रहा है। इसके लिये एक योजना सरकार की सेवा में भेजी गई है।

विज्ञान-समिति—परिषद् के संचालक मण्डल ने विज्ञानवेत्ता विद्वानों की एक समिति बना दी है जिसने अंग्रेजी की कई प्रसिद्ध वैज्ञानिक पुस्तकमालाओं तथा महत्वपूर्ण वैज्ञानिक ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद के लिये एक सूची तैयार की है, आशा है, अगले साल से निश्चित योजना के साथ इस समिति का काम आगे बढ़ेगा।

यहाँ केवल मुख्य मुख्य कामों का ही दिग्दर्शन मात्र कराया गया है।



अपनी बात

हिन्दी प्रचार और प्रादेशिक भाषाओं की सुरक्षा का प्रश्न

हिन्दी भाषी प्रदेशों के बाहर हिन्दी प्रचार का कार्य बहुत पहले से हो रहा है। महात्मा गांधी ने हिन्दी को देश की एकता के लिये आवश्यक समझकर यह कार्य शुरू किया था और उनके नेतृत्व में इस क्षेत्र में जो कार्य हुआ वह बहुत ही श्लाघ्य है। उसका उद्देश्य देश की एकता था और साधन पवित्र प्रेम भावना। इधर जब से हिन्दी देश की राजभाषा हो गई है तब से हिन्दी प्रचार के कार्य के नए अध्याय का प्रारम्भ हुआ है। कई राज्यों में इस प्रकार की बात कही जाने लगी है कि हिन्दी का प्रचार प्रादेशिक भाषाओं के लिये क्षतिकर है। कहीं-कहीं समझदार कहे जानेवाले लोग भी 'हिन्दी के साम्राज्यवाद' (!) से विचलित हुए जान पड़ते हैं। यह भय, संदेह, और आशंका का भाव उस मूल उद्देश्य के लिये अत्यन्त हानिकर सिद्ध होगा जिसे सामने रखकर हिन्दी प्रचार का कार्य शुरू किया गया था। मूल उद्देश्य था देश की एकता, एक दूसरे की अधिकाधिक आत्मीयता की अनुभूति। इस मूल उद्देश्य को सदा स्मरण रखना चाहिए।

निस्सन्देह हमारे देश की कई प्रादेशिक भाषाओं में बहुत समृद्ध साहित्य है। इस सम्पूर्ण साहित्य की रक्षा, वृद्धि और प्रचार हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य है। यह भी देश की एकता के लिये आवश्यक है। यह खूब अच्छी तरह से स्पष्ट हो जाना चाहिए कि हिन्दी का प्रचार और प्रसार किसी भी प्रादेशिक भाषा के प्रचार और प्रसार का विरोधी नहीं है। दोनों एक दूसरे के सहायक हैं। दोनों का उद्देश्य एक ही है। किसी भी प्रादेशिक भाषा या जनपदीय बोली के बोलने वालों के मन में यह भाव नहीं पैदा होने देना चाहिए कि हिन्दी का प्रचार उनके लिये क्षतिकर हो सकता है। जो लोग ऐसा कहते हैं या कहने देने का मौका देते हैं, वे देश की एकता पर ही कुठाराघात करते हैं। इस सम्बन्ध में प्रयाग के हिन्दी परिषद् के अधिवेशन पर मैंने अपने विचार प्रकट किए थे। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

जो लोग हिन्दी भाषा को साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों का माध्यम बना चुके हैं उन सब की मातृभाषा यही भाषा नहीं है। उन्होंने इस भाषा को माध्यम बनाकर देश की एकता को बहुत दृढ़ किया है। यह समझना भूल है कि सभी हिन्दी भाषी कहे जानेवाले लोगों की मातृभाषा साहित्यिक हिन्दी ही है। हिन्दी की उपभाषा समझी जानेवाली कितनी ही बोलियों का पुराना साहित्य किसी भी प्रादेशिक मानी जानेवाली भाषा के पुराने साहित्य से टक्कर ले सकता है। राजस्थानी, मैथिली, व्रजभाषा और अवधी, पंजाबी आदि पुराने साहित्य के टक्कर का पुराना साहित्य कितनी प्रादेशिक भाषाओं के पास है? इन सब बोलियों के बोलने वालों ने स्वेच्छा से अपनी-अपनी भाषाओं के स्थान पर परिनिष्ठित हिन्दी को स्वीकार किया है और इस प्रकार देश की एकता को मजबूत किया है। उनके इस त्याग को 'भाषा का साम्राज्य-वाद' कहकर हेय बनाने का प्रयत्न गलत और अनुचित है। दुर्भाग्यवश उत्तरदायी कहे जानेवाले

लोग भी इस बात को इस तरह कह जाते हैं जो इसके महत्वपूर्ण पहलू को भुला देने या हीन समझने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देता है।

जो लोग हिंदी के प्रश्न पर विचार करते हैं और साथ ही इस देश को खंड-विच्छिन्न नहीं देखना चाहते, उनसे मेरी प्रार्थना है कि दो शब्दों का प्रयोग बहुत सोच-समझकर करें। एक शब्द है 'हिंदी साम्राज्यवाद'। यह शब्द हर प्रकार से गलत है। यह केवल देश को गलत रास्ते ही ले जा सकता है। हिंदी को जो राष्ट्रभाषा या राजभाषा के रूप में स्वीकार किया गया है वह इसलिए कि देश के बहुसंख्यक लोगों ने स्वेच्छा से उसे साहित्यिक, सांस्कृतिक और सामाजिक क्रियाकलाप का माध्यम बना लिया है। और सारा देश साक्षी है कि उन्होंने स्वेच्छापूर्वक जो कार्य किया है उससे देश की समस्या बहुत हल्की हो गई है। इस कार्य को लघु-भाव से देखना अनुचित और अहितकर दोनों है। दूसरा खतरनाक शब्द है 'भाषा निर्माण'। इस शब्द ने हिंदीतर प्रदेश में गलत ढंग से सोचने को प्रोत्साहन दिया है। लोग सोचते हैं कि हिंदी में कोई साहित्य ही नहीं है और उसका कोई परिनिष्ठित रूप ही नहीं है। सर्वत्र विचित्र ढंग की हिंदी गढ़ने का प्रयास चलने लगा है। दक्षिण से आए अनेक हिंदी विद्यार्थियों ने यह शिकायत की, कि हम लोग जो भाषा दक्षिण में पढ़ते हैं वह यहाँ की बोली और लिखी जानेवाली भाषा से भिन्न है। यह नहीं कि यहाँ के लोग कुछ प्रादेशिक-मिश्रित भाषा बोलते हों। यह तो होगा ही, इसके लिये हम बिलकुल चिन्तित नहीं हैं। चिन्ता की यह बात है, कि उनको जो पाठ्य-पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं उन्हीं में कुछ शिथिल भाषा का प्रयोग होता है। हिंदी-भाषी प्रदेशों के बाहर यह एक धारणा-सी बनी हुई है कि हिंदी में कोई साहित्य नहीं है और भाषा शैली अभी बन नहीं पाई है, यह गलत बात है। हिंदी का परिनिष्ठित रूप बन चुका है। 'हिंदी में साहित्य नहीं है' का मतलब यह है कि अंग्रेजी या रूसी जैसी समृद्ध भाषाओं का जैसा साहित्य है और भारत की राष्ट्रभाषा के पास जैसा और जितना साहित्य वाञ्छनीय है उतना नहीं है। साहित्य बढ़ाइए, पारिभाषिक शब्द बढ़ाइए, ग्रन्थ लिखिए, लिखाइए, अनुवाद कीजिए—सब ठीक है, परंतु हिंदीतर प्रदेशों में यह गलत धारणा न फैलने दीजिए, कि हिदी भाषा का कोई रूप ही नहीं है, और यदि कोई रूप है भी तो उसको सीखने योग्य साहित्य ही नहीं है।

हिंदी भाषी प्रदेशों के बाहर की भाषाओं को दो श्रेणियों में रक्खा जा सकता है। एक वे जिन्हें आधुनिक भारतीय आर्य भाषा कहा जाता है, दूसरी वे जिन्हें द्रविड़ परिवार की भाषा कहा जाता है। प्रथम श्रेणी की भाषा बोलनेवालों के लिये हिंदी सीखना बहुत कठिन नहीं है परन्तु दूसरी श्रेणी वालों के लिये कुछ अधिक कठिन है। हमें यह ठीक ठीक समझ होनी चाहिए, कि जिन लोगों को हिंदी सीखनी पड़ रही है उनकी समस्या वास्तविक है। मुझसे कोई कहे कि तुम्हें साल भर में तामिल सीखकर सब कारबार तामिल में करना पड़ेगा, तो मैं खूब अच्छी तरह जानता हूँ कि सच्चे हृदय से प्रयत्न करके भी मुझे यह शंका बनी ही रहेगी, कि मैं उस भाषा में कार्य कर सकूँगा या नहीं। इसलिए समस्या वास्तविक है और कठिन भी है। मुझे बहुत दुःख के साथ कहना पड़ रहा है कि हम हिंदीवाले बिलकुल ही सोए हुए हैं। हमें ऐसे शब्दकोषों, मुहाविरा कोषों और शब्द-स्वसारों (थेसारस) का

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.

कहना व्यर्थ है कि इन बोलियों में भाव प्रकाशन के उपयुक्त अनेक पद शब्द हैं जो न तो संस्कृत में हैं और न खड़ी बोली के साहित्यिक रूप में। इन शक्तिशाली शब्दों, मुहाविरों का संकलन होना चाहिए और भाषा को नवीन शक्ति से तेजोदृप्त बनाना चाहिए। यद्यपि मैं संस्कृत का प्रेमी हूँ और मानता हूँ कि अहिन्दी भाषियों के द्वारा जो भाषा बोली और लिखी जायगी वह संस्कृत शब्दों से भरी होगी। वे उसे अधिक समझ भी सकेंगे; पर मेरा यह भी कहना है कि राष्ट्रभाषा के साथ हिन्दी प्रादेशिक भाषा भी है। इसमें यथार्थ शक्ति तो तभी आ सकती है जब वह जनपदीय बोलियों की प्राणप्रदा शक्ति से तेजस्वी बने।

—हजारी प्रसाद द्विवेदी